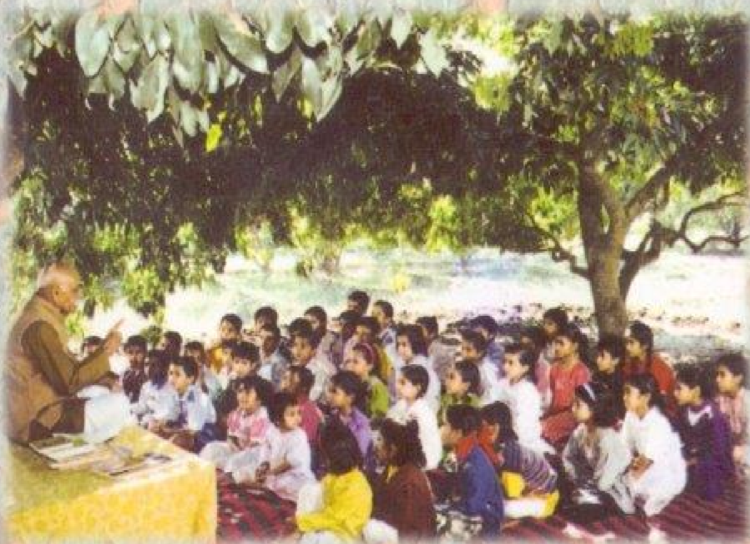
बच्चों को उत्तराधिकार में धन नहीं, गुण दें



- शैलबाला पण्ड्या

बच्चों को उत्तराधिकार में धन नहीं, गुण दें



लेखिका

शैलबाला पण्ड्या



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०– २५३०२००



पुनरावृत्ति सन् २०१३ मूल्य ३१.०० रुपये



लेखिका

शैलबाला पण्ड्या



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३



मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

विषय-सूची



बच्चों को उत्तराधिकार में धन नहीं, गुण दें



लोग कारोबार करते, परिश्रम-पुरुषार्थ करते और जरूरत से कहीं ज्यादा धन-दौलत जमीन-जायदाद इकट्ठी कर लेते हैं। किसलिए? इसलिए कि वे यह सब अपने बच्चों को उत्तराधिकार में दे सकें। बच्चे उनके अपने रूप होते हैं। सभी चाहते हैं कि उनके बच्चे सुखी और समुन्नत रहें, इसी उद्देश्य से वे कुछ न कुछ सम्पत्ति उनको उत्तराधिकार में दे जाने का प्रयत्न किया करते हैं।

किसी हद तक ठीक भी है। जिनको कुछ सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिल जाती है उनको कुछ न कुछ सुविधा हो ही जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जिनको धन-दौलत, जमीन-जायदाद उत्तराधिकार में मिल जाए उनका जीवन सुखी ही रहे। यदि जीवन का वास्तविक सुख धन-दौलत पर ही निर्भर होता तो आज भी सभी धनवानों को हर प्रकार से सुखी होना चाहिए था। बहुत से लोग आए दिन धन-दौलत कमाते और उत्तराधिकार में पाते रहते हैं। किन्तु फिर भी रोते-तड़पते और दु:खी होते देखे जाते हैं। जीवन में सुख-शान्ति के दर्शन नहीं होते।

सुख का निवास सद्गुणों में है, धन-दौलत में नहीं। जो धनी है और साथ में दुर्गुणी भी, उसका जीवन दु:खों का आगार बन जाता है। दुर्गुण एक तो यों ही दु:ख के स्रोत होते हैं फिर उनको धन-दौलत का सहारा मिल जाए तब तो वह आग जैसी तेजी से भड़क उठते हैं जैसे हवा का सहारा पाकर दावानल। मानवीय व्यक्तित्व का पूरा विकास सद्गुणों से ही होता है। निम्नकोटि के व्यक्तित्व वाला मनुष्य उत्तराधिकार में पाई हुई सम्पत्ति को शीघ्र ही

नष्ट कर डालता है और उसके परिणाम में न जाने कितना दुःख, दर्द, पीड़ा, वेदना, ग्लानि, पश्चाताप और रोग पाल लेता है।

जो अभिभावक अपने बच्चों में गुणों का विकास करने की ओर से उदासीन रहकर उन्हें केवल, उत्तराधिकार में धनदौलत दे जाने के प्रयत्न तथा चिन्ता में लगे रहते हैं वे भूल करते हैं। उन्हें बच्चों का सच्चा हितैषी भी कहा जा सकना कठिन है। गुणहीन बच्चों को उत्तराधिकार में धन-दौलत दे जाना पागल को तलवार दे जाने के समान है। इससे वह न केवल अपना ही अहित करेगा बल्कि समाज को भी कष्ट पहुँचाएगा। यदि बच्चों में सद्गुणों का समुचित विकास न करके धन-दौलत का अधिकारी बना दिया गया और यह आशा की गई कि वे इसके सहारे जीवन में सुखी रहेंगे तो किसी प्रकार उचित न होगा। ऐसी प्रतिकूल स्थिति में वह सम्पत्ति सुख देना तो दूर उल्टे दुर्गुणों तथा दुःखों को ही बढ़ा देगी।

यही कारण तो है कि गरीबों के बच्चे अमीरों की अपेक्षा कम बिगड़े हुए दीखते हैं। गरीब आदमियों को तो रोज कुँआ खोदना और रोज पानी पीना होता है। शराबखोरी, व्यभिचार अथवा अन्य खुराफातों के लिए उनके पास न तो समय होता है और न फालतू पैसा। निदान वे संसार के बहुत से दोषों से आप ही बच जाते हैं। इसके विपरीत अमीरों के बच्चों के पास काम तो कम और फालतू पैसा व समय ज्यादा होता है जिससे वे जल्दी ही गलत रास्तों पर चलते हैं। इसलिए आवश्यक है कि अपने बच्चों का जीवन सफल तथा सुखी बनाने के इच्छुक अभिभावक उनको उत्तराधिकार में धन-दौलत देने की अपेक्षा सद्गुणी बनाने की अधिक चिन्ता करें। यदि बच्चे सद्गुणी हों तो उत्तराधिकार में न भी कुछ दिया जाए तब भी वे अपने बल पर सारी सुख-सुविधाएँ इकट्ठी कर लेंगे। गुणी व्यक्ति को धन-सम्पत्ति के लिए किसी पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहती।

जो अभिभावक अपने बच्चों को लाड़-प्यार तो करते हैं उन्हें पढ़ाते-लिखाते और कार-रोजगार से भी लगाते और प्रयत्नपूर्वक

उत्तराधिकार में कुछ दे भी जाते हैं किन्तु उनके व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए गुणों का अभिवर्धन उनमें नहीं करते वे मानो अपना सच्चा कर्त्तव्य पूरा नहीं करते। उनका वास्तविक कर्त्तव्य यह है कि वे सन्तान को सभ्य सुशील और सद्‌गुणी बना कर जावें। उन्हें सात्त्विक स्वभाव, सद्‌भावनाओं तथा सत्प्रवृत्तियों की वह सम्पत्ति देकर जाएँ जो उनके इसी जीवन में ही नहीं जन्म-जन्मान्तर तक काम आए। सन्तान को धनवान, बलवान अथवा विद्यावान तो बना दिया गया किन्तु उनमें मानवीय व्यक्तित्त्व का विकास करने की ओर से उदासीनता बर्ती गई तो निश्चय ही वे अपने जीवन में सुखी नहीं रह सकते। केवल भौतिक साधन जुटा देने से बच्चे सुखी नहीं बन सकते। साधनों से कुछ सुविधा तो बढ़ सकती है किन्तु शान्ति एवं सन्तोष का आधार तो सद्‌गुण तथा सद्प्रवृत्तियाँ ही हैं। कुसंस्कारी व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकते, जीवन में उन्हें वास्तविक शान्ति मिल सकना कठिन है। वैभव के कारण वे दूर से दूसरों को सुखी दिखाई दे सकते हैं किन्तु वास्तविकता की दृष्टि से वे बड़े ही अशान्त तथा दु:खी होते हैं। जो उच्च मन:स्थिति वास्तविक शान्ति के लिए अपेक्षित होती है, वह दुर्गुणी व्यक्ति में नहीं होती। इसलिए बच्चों के सच्चे हितैषी अभिभावकों का पहला कर्त्तव्य है कि वे उत्तराधिकार में उनके लिए धन-वैभव का भण्डार भले ही न छोड़ें किन्तु उन्हें सद्‌गुणी अवश्य बना जाएँ। जो अभिभावक ऐसा करने की बुद्धिमानी करते हैं, उनकी सन्तान निर्धनता की स्थिति में भी पूर्ण सुखी तथा सन्तुष्ट रहती है।

सन्तान को उत्तराधिकार में यदि कुछ सम्पत्ति देनी ही है तो उन्हें गुणों की सम्पत्ति अवश्य दीजिए। किन्तु यह सम्पत्ति आप से तभी पाएगें जब वह आपके पास स्वयं होगी। जो चीज स्वयं आपके पास न होगी वह आप बच्चों को दे भी कहाँ से सकते हैं। इसलिए बच्चों को उत्तराधिकार में देने के लिए प्रयत्नपूर्वक गुणों का स्वयं उपार्जन करिए।

बच्चों को देने योग्य गुण-सम्पत्ति का पहला रत्न है-श्रमशीलता। जो अभिभावक अपने बच्चों में श्रमशीलता का सद्‌गुण विकसित

कर देते हैं, मानो उन्हें परोक्ष रूप से संसार की सारी सम्पदाओं का अधिकारी बना देते हैं। ऐसी कौन सी सम्पत्ति इस संसार में है जो श्रम में विश्वास रखने वाले पुरुषार्थी के लिए दुर्लभ हो सकती है। पुरुषार्थी अपने बाहुबल से मरुस्थल में पानी और धरती से धन प्राप्त कर सकता है। परिश्रमी व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति में भी उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर लेता है। सारे सुख और सारी सम्पत्तियों का मूल परिश्रम को ही कहा गया है। उद्योगी पुरुष-सिंह को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। इसलिए बच्चों के लिए सम्पत्ति छोड़ने की उतनी चिंता न करिए जितना कि उन्हें श्रमशील तथा उपयोगी बनाने की।

बच्चों को परिश्रमशील बनाने के प्रयत्न के साथ स्वयं भी परिश्रमशील बनिए। अपना सारा काम अपने हाथ से करिये। उन्हें कभी भी आलस्य में पड़े-पड़े आराम मत करने दीजिए। यदि आप ऐसा करेंगे तो अपने प्रयत्न में सफल हो सकेंगे। बच्चों को परिश्रमपरक कार्यक्रम दीजिए। नियमित समय पर उन्हें अपने पाठों तथा पुस्तकों पर परिश्रम करते रहने की प्रेरणा तो देते ही रहिए साथ ही उन्हें शरीर की सफाई, कपड़ों तथा घर की सफाई में भी लगाइये। यथासम्भव पानी भरने और बाजार से खुद सामान लेकर आने का अभ्यास डालिए। कहीं यदि पास पड़ोस में कोई कार्य हो तो उन्हें स्वयं सेवक बनाकर काम करने के लिए भेजिए। उन्हें शिक्षा दीजिए कि हाट-बाट में यदि कोई ऐसा अशक्त अथवा वृद्ध व्यक्ति मिल जाए जो अपना बोझ लेकर न चल पाता हो तो थोड़ी दूर तक उसका हाथ बटाएँ। सार्वजनिक स्थानों में जहाँ वे खेलने अथवा उठने-बैठने जाते हैं यदि कूड़ा-करकट ईंट-पत्थर पड़े दिखाई दें तो उन्हें साफ़ कर डालने में आलस्य न करें। साथ ही उन्हें कताई बुनाई अथवा सिलाई आदि का कुछ ऐसा काम सिखलाएँ जो वे अपने खाली समय में कर सकें। बागवानी तथा रसोई वाटिका का काम तो उनके लिए बहुत ही रुचिकर तथा स्वास्थ्यदायक होगा। इसके अतिरिक्त जिस समय उनके खेलने का समय हो उस समय उन्हें घर पर कभी मत बैठा रहने दीजिए। उन्हें खेलने के लिए प्रेरित करिए और ऐसे खेल खेलने को दीजिए जिससे स्वास्थ्य, मनोरंजन तथा बुद्धि-विकास

तीनों का उद्देश्य सम्पादित होता हो। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चों को रात में आराम के समय को छोड़कर, किसी समय भी बैठे अथवा पड़े रहने का अभ्यास मत पड़ने दीजिए। यदि आप के घर में कोई कार-रोजगार, दूकानदारी आदि का काम हो तो उन्हें कुछ देर उसमें लगाने के लिए मत भूलिए। इससे उनमें न केवल परिश्रमशीलता ही बढ़ेगी बल्कि वे कार-रोजगार में भी दक्ष होते चलेंगे।

परिश्रमशीलता के साथ बच्चों को उदारता का गुण भी देते जाइये। जो परिश्रमशील है, वह सुखी और सम्पन्न बनेगा ही। यदि उसमें उदारता का गुण नहीं होगा तो वह स्वार्थी हो जाएगा। सोचेगा कि मैं जो कुछ परिश्रम पूर्वक कमाता हूँ उसे दूसरों को क्यों दूँ। साथ ही उसमें हर चीज पर अपना अधिकार समझने का दोष आ जाएगा। उदार बनाने के लिए उन्हें अपने छोटे भाई बहनों के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करने की प्रेरणा दीजिए। बहुधा बच्चे खिलौने तथा अन्य खाने पीने की चीजों पर आपस में लड़ने और छीना-झपटी करने लगते हैं। उन्हें ऐसा न करने की प्रेरणा दीजिए और बड़े बच्चे को अपने हाथ से छोटे भाई-बहनों को चीज बाँट कर पीछे खुद लेने को कहिए। ऐसा करने से वह चीज के विभाग करने में उत्तरदायी होने के कारण न्यायशील बनना और उनको अधिक भाग देने की उदारता बरतेगा जिससे उसे जो बड़प्पन का गौरव मिला है वह कलङ्कित न हो जाए। इस प्रकार जब बड़ा उदारता बरतने लगेगा तो छोटे भाई-बहन तो आप से आप उदार हो जाएँगें। किन्तु बच्चों को उदारता की प्रेरणा देने में सफलता मिलेगी तभी जब आप स्वयं भी दूसरों के साथ उदारता बरतें परिवार-प्रमुख एक प्रकार से परिवार में सबसे बड़ा होता है। स्थान महत्त्व के कारण वह बड़े-बूढ़ों का अभिभावक होता है। इसलिए उसे बच्चे, बूढ़े तथा स्त्रियाँ सबके साथ उदारता का व्यवहार करना चाहिए। हर चीज सबसे पहले पूरे परिवार में देनी चाहिए इस विषय में अपने को सबसे पीछे रखना और निःस्वार्थ रहना चाहिए। किसी व्यवहार में स्वार्थ अथवा अधिकार की भावना का पुट नहीं होना चाहिए। इस प्रकार देख कर और प्रेरणा पाकर बच्चे उदारतापूर्वक व्यवहार करने के अभ्यस्त होते चले जाएँगें।

स्वच्छता और सादगी वह तीसरा गुण है जो बच्चों को उत्तराधिकार में दिया जाना चाहिए। स्वच्छता एवं सादगी सज्जनता का गुण है। प्रदर्शन फैशनपरस्त अथवा शान-शौकत वाले बन जाने से बच्चों में न केवल फिजूलखर्ची ही आ जायेगी बल्कि उनमें ईर्ष्या और अहङ्कार का भी दोष आएगा। वे तड़क भड़क वाले कपड़े पहने होने से अपने आपको दूसरों से बड़ा आदमी समझेंगे और यदि कोई दूसरा वैसे कपड़े पहने दिखलाई देगा उससे ईर्ष्या करने लगेंगे। फैशनपरस्त बच्चे अपने छोटे भाई-बहनों को भी अच्छा पहने नहीं देख सकते। साथ ही फिजूलखर्ची की आदत हो जाने से वे सबसे पहले और सबसे ज्यादा धन अपने लिए चाहेंगे आगे चल कर अनीति द्वारा कमाई करने का प्रयत्न करने में भी संकोच नहीं करेंगे। इस प्रकार के अनुदार, स्वार्थी, फिजूलखर्ची तथा अनीतिवान व्यक्ति संसार में कभी सुखी नहीं रह सकते।

तन, मन, वस्त्रों तथा स्थान की स्वच्छता मनुष्य की आत्मा में देवत्व का समावेश कर देती है। हर चीज को साफ तथा व्यवस्थित रखने की आदत डाल देने से बच्चे आगे चल कर जीवन के हर क्षेत्र में स्वच्छता तथा व्यवस्था बनाए रखेंगे जो उनको सुखी और सन्तुष्ट बनाए रखने में सहायक होगी।

मितव्ययता वह तीसरा गुण है जो बच्चे को उत्तराधिकार में अवश्य ही देना चाहिए। मितव्ययी लोगों के जीवन में अनेक दोष आने से बच जाते हैं। एक तो जो मितव्ययी होता है वह धनलिप्सु न होने से बेईमानी करने से बचा रहता है। मितव्ययी व्यक्ति थोड़ी सी पूँजी से बड़े काम चला लेता है और कभी ऋणी नहीं होता। मितव्ययी लोग बहुत ही कम व्यसनी हुआ करते हैं जिससे वे न जाने कितने रोगों और अपवादों की वेदना से बचे रहते हैं। मितव्ययी को जीवन में किसी चीज का अभाव नहीं सताता क्योंकि वह लोलुप न होकर सन्तोषी हुआ करता है उसके ऐसे मित्रों की संख्या नहीं बढ़ पाती जो आगे चलकर झूठे सिद्ध होते हैं और जीवन में अशान्ति के कारण बनते हैं।

शिशु निर्माण में अभिभावकों का उत्तरदायित्व

बालकों के शरीर की उत्पत्ति माता पिता के शरीर से होती है। जैसी खरी-खोटी धातु लगायी जाएगी, वैसा ही बर्तन बनेगा। जैसे ईट-चूने का प्रयोग होगा, वैसा ही मकान बनेगा। यदि माता-पिता के शरीर स्थूल अथवा सूक्ष्म रोगों से ग्रसित हैं तो संतान पर भी उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

शरीर शास्त्र के ज्ञाता यह भली-भाँति जानते हैं कि कितने ही रोग ऐसे हैं जो पीढ़ियों तक चलते हैं। उपदंश मृगी, उन्माद, अर्श, क्षय आदि के कीटाणु माता-पिता के शरीर में विद्यमान हों तो बहुधा उनका प्रभाव संतान में भी देखा जाता है। माता-पिता की संतान प्राय: वैसे ही रंग की होती है। मां-बाप के शरीर की कृशता या स्थूलता भी बालकों पर प्रकट होती देखी गयी है।

वेष-भाषा, भाव-संस्कृति, रुचि, आहार विहार, आचार विचार आदि बातों में भी बच्चे अपने माँ-बाप का अनुसरण करते हैं। छोटा बालक माता के उदर में उन बातों के बहुत कुछ संस्कार ग्रहण कर लेता है और जन्म धारण के पश्चात् उन बातों को सहज ही अपनाने लगता है। इस प्रकार शारीरिक और सामाजिक दृष्टि से बालक सत्तर प्रतिशत अपने जन्मदाता शरीरों की प्रतिमूर्ति होता है। वंश, जाति, नस्ल, वर्ण आदि के विभागों के मूल में यही तत्त्व कार्य करता है। यदि माता-पिता का प्रभाव संतान पर न आता तो इस प्रकार का वर्गीकरण दृष्टिगोचर न होता और नीग्रो, चीनी, पंजाबी, बंगाली, मद्रासी, योरोपियन आदि जातियों में जो आकृति, रंग, स्वभाव आदि का अन्तर दिखाई पड़ता है, वह भी न दीखता।

माता-पिता के शरीर, स्वभाव और प्रवृत्तियों का अनुसरण प्राय: अन्य जीव-जन्तुओं की भाँति मनुष्य-जाति में भी होता है। साथ ही मनुष्य की मानसिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों का

उत्तराधिकार भी उसके आत्मजों को मिलता है। हम माता-पिता के धन सम्पत्ति एवं यश-अपयश के ही नहीं, उनकी आन्तरिक विशेषताओं और आध्यात्मिक सम्पदाओं के भी उत्तराधिकारी होते हैं। उत्तम ब्राह्मण कुल में बहुधा सात्विक गुणों के बालक जन्मते हैं और वधिक, म्लेच्छ एवं कसाईयों के घरों में प्रायः वैसी की प्रकृति के बच्चे जन्मते और बनते हैं।

यों हर जीव अपने पूर्वजन्मों के स्वतन्त्र संस्कार और प्रारब्ध को साथ लाता है, इसलिए कभी-कभी माता-पिता से भिन्न स्वभाव की संतान भी होती देखी गयी है, पर ऐसा होता अपवादस्वरूप ही है। अधिकांश बच्चे अपने जन्मदाताओं के गुण, कर्म, स्वभाव के होते हैं। भारतीय वर्ण व्यवस्था में इन तत्त्वों को प्रमुख आधार मानकर जन्म एवं वंश को प्रधानता दी गयी है। एक शरीर त्यागकर जीव जब दूसरे शरीर में जाने को होता है, तब वह अपनी संचित रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल स्थान को ढूँढ़ता है। रेलगाड़ी के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा करने वाले लोग स्टेशन पर उतरकर प्रथम श्रेणी के यात्रियों के लिए बने हुए विशेष आरामघरों में चले जाते हैं और तीसरे दर्जे में यात्रा करने वाले उसी दर्जे के बने हुए मुसाफिरखाने में जा बैठते हैं। वैसे ही जीव भी अगले जन्म के लिए अपने उपयुक्त वंश में जा पहुँचता है। आकाश में उड़ते हुए पक्षी तथा कीट पतंग अपनी रुचिकर वस्तुओं को ढूढ़ते फिरते हैं और जब अनुकूल अभीष्ट वस्तु मिल जाती है, तब उसे प्राप्त करने के लिए नीचे उतर आते हैं। गिद्ध मृतक के मांस को, कौआ विष्ठा को, भौंरा फूलों को, बाज चिड़ियों को ढूँढ़ते फिरते हैं। जहाँ उनकी मनचाही वस्तु दीखती है वहीं पर वे उतर पड़ते हैं। जीवों को प्रारब्ध के भोग तो अपने कर्मानुसार ही भुगतने पड़ते हैं जो हर कुल और वंश में भुगते जाते सम्भव है—पर जन्म लेने के लिए वे अपनी पूर्वसंचित रुचि के अनुकूल स्थिति ही ढूंढ़ते हैं और दयामय प्रभु उन्हें इच्छित वातावरण में जन्मने का अवसर प्रदान करते हैं।

माता-पिता की जैसी आध्यात्मिक भूमिका होती है, उसी के अनुरूप प्रारब्ध संस्कार वाले जीव उनके शरीर में प्रवेश करके

उस वातावरण में जन्म धारण करते हैं। इसलिए यदि अपने वंश में उत्तम संतान को जन्म देना है तो उसके लिए अपने आप को उत्तम बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। जो लोग स्वयं पतित दशा में हैं, जिनकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्थिति गिरी हुई है, उनकी संतान भी दीन हीन ही रहेगी।

संतानोत्पादन एक महान् उत्तरदायित्व है, जिसे उठाने के लिए बहुत समय पूर्व तैयारी करने की आवश्यकता है। किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को सफलता पूर्वक पूर्ण करने के लिए जिस प्रकार उसके लिए सभी आवश्यक उपकरण एकत्रित करने पड़ते हैं, उसी प्रकार उत्तम संतान प्राप्त करने के लिए जहाँ बालक को उत्तम शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता है, वहाँ उसके जन्म से पूर्व वे परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेनी भी आवश्यक हैं, जिनमें कोई उत्तम जीव स्थान ग्रहण करता है। उत्तम फसल प्राप्त करने के लिए एक कृषक पौधों को सींचने और उनकी रखवाली की व्यवस्था करता है, किन्तु यदि उत्तम भूमि, अच्छी जुताई, परिपुष्ट बीज आदि की पूर्व तैयारियाँ ठीक प्रकार न हों तो सिंचाई और रखवाली की अच्छी व्यवस्था भी निष्फल चली जाती है और किसान वैसी फसल प्राप्त नहीं कर पाता, जैसी कि वह चाहता है।

कहा गया है कि पतित संतानों के कारण उनके पितरों को नरकगामी होना पड़ता है। कारण स्पष्ट है। समुचित पूर्व तैयारी के बिना ही संतान को उत्पन्न कर डालना एक भारी अपराध है, जिसका दण्ड उसके लौकिक जीवन में तो मिलता ही है, पारलौकिक जीवन में भी उसकी कम दुर्गति नहीं होती। संतान की हीनता और नीचता से जो अनुचित कार्य होते हैं, उनमें माता-पिता की भी निन्दा होती है, क्योंकि वे सुयोग्य संतान उत्पन्न करने का अपना उत्तरदायित्व पूरा करने में सफल न हो सके। जो व्यक्ति अनधिकार चेष्टा करते हैं वे निन्दा के पात्र होते हैं। मनुष्योचित गुण जिसमें न हो, वह तो पशुतुल्य ही है। पशुओं की भाँति केवल काम प्रेरणा से ही गर्भाधान में प्रवृत्त हो जाना और एक असंस्कृत जीव उत्पन्न कर देना—पशु-प्रवृत्ति है। वह मनुष्यता के प्रति, देश और जाति के प्रति एक अपराध भी है

क्योंकि उनके पाशविक उद्देश्य के फलस्वरूप जो बालक उपजते हैं वे संसार के प्रति अहितकर और अवाञ्छनीय कार्य करते हैं, उनसे पृथ्वी का बोझ और संसार में अनीति तथा अशान्ति की वृद्धि होती है। इस गड़बड़ी की जिम्मेदारी उन माता पिताओं पर है, जो संतानोत्पत्ति जैसे महान् उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने से पूर्व उसकी भावी सम्भावनाओं पर विचार नहीं करते। ऐसी गैरजिम्मेदारी किसी व्यक्ति की लौकिक और पारलौकिक दुर्गति का ही कारण हो सकती है। ऐसे पितर नरकगामी नहीं होंगे तो क्या स्वर्गगामी होंगे?

आज हमारे परिवार क्लेश और कलह से भरे हैं। इसमें प्रधान कारण असंस्कृत सन्तान का होना ही है। घर के मुखिया एवं बड़े बूढ़े छोटों की उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, चोरी, स्वार्थपरता एवं अशिष्टता से परेशान देखे जाते हैं। स्कूलों में अध्यापक सिर धुनते हैं, घर में अभिभावकों का जी जलता है, क्या लड़के और क्या लड़कियाँ—सभी की चाल बेढंगी है। जब तक बचपन रहता है, तब तक उद्दण्डता करते हैं, कुछ समझदार होते हैं तो वासना और विलासिता की ओर झुक पड़ते हैं, बड़े होने पर उनकी कार्य पद्धति स्वार्थ परता से ओतप्रोत हो जाती है। माता-पिता के लिए परिवार के लिए, देश के लिए संस्कृति के लिए, मनुष्यता के लिए—वे अभिशाप ही सिद्ध होते हैं। हमारी नई पीढ़ियाँ प्राय: इसी मार्ग का अनुसरण कर रही हैं। कोई बिरले ही भाग्यशाली घर ऐसे होंगे जिनमें कर्त्तव्यपालन, शिष्टाचार, सद्भावना, सेवा, त्याग, आत्मीयता एवं सदाशयता का अमृत बरसता हो। प्राचीन काल में जो स्थिति घर-घर थी, वह आज कहीं दिखाई नहीं पड़ती। जो बातें पूर्व काल में कहीं नहीं देखी जाती थीं, वे अब घर-घर में मौजूद हैं। परिस्थितियों में इतना भारी परिवर्तन हो जाने के कारणों में सबसे बड़ा कारण माता पिता की गैर जिम्मेदारी है, जो सुयोग्य संतानोत्पत्ति के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त किए बिना इस भारी उत्तरदायित्व को कंधे पर उठाने का दु:साहस कर बैठते हैं। इन्हीं भूलों के कारण आज हमारा पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन विषाक्त बनता चला जा रहा है।

यह सभी जानते हैं कि माता-पिता को अपने शरीर का पूर्ण विकास कर लेने तक—युवावस्था तक—ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। वासनापूर्ति के लिए नहीं, संतानोत्पत्ति के लिए ही काम सेवना करना चाहिए। गृहस्थ जीवन में भी पूर्ण संयम का पालन करने से बलवान; निरोग, बुद्धिमान् और दीर्घजीवी संतान उत्पन्न होती है; परन्तु इस तथ्य को बहुत कम लोग जानते हैं कि माता-पिता के आचरण का बच्चे पर क्या प्रभाव पड़ता है? बालक केवल हाड़ मांस का ही नहीं होता, उसमें अन्तश्चेतना का भी प्रमुख भाग रहता है और उस चेतना में भी माता-पिता की बौद्धिक चेतना का भाग रहता है। यदि माता-पिता के मन में, मष्तिष्क में अन्तःकरण में कुविचार स्वार्थपरता, वासना, असंयम और अनुदारता की वृत्तियाँ भरी हुई हैं तो वे उसी रूप में या थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में बालक में भी प्रकट होंगी। जैसे उपदंश रोग ग्रस्त स्त्री पुरुषों के रज वीर्य से दूषित रक्त वाले बालक जन्मते हैं वैसे ही बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से रोगी लोगों की संतान भी पतित मनोभूमि वाली होती है।

व्यभिचार जन्य जारज और वर्णशंकर संतान आमतौर से दुष्ट दुराचारी एवं कुसंस्कारों से भरी हुई होती है; क्योंकि उनके माता-पिता में पापवृत्तियों की प्रधानता रहती है। जिन स्त्री-पुरुषों में परस्पर द्वेष, घृणा एवं मनोमालिन्य रहता है, उनके बच्चे प्रायः-कुरूप और बुद्धिहीन होते हैं। डाक्टर फाउलर ने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ खोज बीन की है। उन्होंने बहुत से बालकों की विशेषताओं का कारण उनके माता-पिता की मानसिक स्थितियों को पाया है, शारीरिक दृष्टि से गिरे हुए माता-पिता के द्वारा उन्होंने उत्तम स्वास्थ्य के बालकों की उत्पत्ति का कारण उस दम्पत्ति का पारस्परिक सच्चा प्रेम पाया। इसी प्रकार उन्हें इस बात के भी प्रमाण मिले कि उद्विग्न मनोदशा के दम्पत्ति शारीरिक और सांसारिक दृष्टि से अच्छी स्थिति के होने पर भी बीमार और बुद्धिहीन संतान के जनक बने।

डाक्टर जानकेनन ने मनोविज्ञान की दृष्टि से इस सम्बन्ध में विशेष शोध की है और वे अनेक उदाहरणों एवं प्रमाणों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि माता पिता सद्गुणी, अच्छे

स्वभाव के, कर्त्तव्यनिष्ठ और धर्मात्मा हैं तो उनकी शारीरिक अपूर्णताओं और विकास की अन्य सुविधाओं के अभाव में बालक उत्तम शरीर और मनवाले उत्पन्न होते हैं। कभी कभी जो प्रतिकूल अपवाद देखे जाते हैं उनमें भी मानसिक प्रतिकूलताओं को ही उन्होंने निमित्त कारण पाया है। धर्मात्मा लोग भी जब किसी अनीति से पीड़ित होते हैं और उनके मन में पीड़ा उद्वेग एवं प्रतिहिंसा की अग्नि जलती है तो उसके बुरे संस्कारों से बालक की मनोभूमि भर जाती है। इसी प्रकार कभी-कभी बुरे आदमी भी परिस्थितिवश उच्च विचारधाराओं से भरे होते हैं तो उसकी उत्तम छाया भी बच्चों पर आती है। पुलस्त्य ऋषि के घर रावण का और हिरण्यकश्यपु के घर प्रह्लाद का जन्म होने जैसी घटनाओं में उन्होंने माता पिता की मनोदशा के परिवर्तनों को ही कारण माना है।

हमें नीतिमान एवं पवित्र चरित्रवान् होना चाहिए; क्योंकि यह जीवन यापन की सर्वोत्तम नीति है। हमें अपने गुण, कर्म, स्वभाव को उत्तम बनाना चाहिए क्योंकि यह सफलता और उन्नति का सुपरिचित मार्ग है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपनी मनोभूमि को, अपनी विचारधारा को अपनी कार्यपद्धति को उच्चकोटि के आदर्शों से ओत प्रोत करें; क्योंकि इसी मार्ग पर चलकर लौकिक और पारलौकिक सुख शान्ति सम्भव है। संतानोत्पत्ति की दृष्टि से भी प्रत्येक गृहस्थ का यह आवश्यक उत्तरदायित्व है; क्योंकि आत्मनिर्माण करने से ही कोई माता-पिता सुयोग्य संतान उत्पन्न कर सकते हैं। आज कुपात्र संतान की बाढ़ आयी हुई है और सत्पात्र संतति के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं। इस विपन्न परिस्थिति को बदलने का सर्वोपरि उपाय यह है कि हमारे जीवन में नीति, धर्म, त्याग, तप,सेवा, संयम, पवित्रता, सचाई आदि धार्मिक प्रवृत्तियों की स्थापना हो। स्वयं उत्तम बनने से ही उत्तम संतान की आशा की जा सकती है।



संतान पालन की शिक्षा भी चाहिए

मानव-जीवन के अनेक कर्त्तव्यों में संतान उत्पन्न करने और उसे यथा-योग्य पालन का कार्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह एक प्राकृतिक नियम है इसलिए अनेक व्यक्ति इसके विषय में अधिक सोच-विचार करना आवश्यक नहीं समझते पर यह उनकी बड़ी भूल है। मनुष्य इस समय प्रकृति के नियमानुकूल नहीं रहता वरन् उसने अपनी बुद्धि से अनेक नये नियमों का आविष्कार किया है और उसका रहन-सहन प्राकृतिक के बजाय कृत्रिम ही अधिक कहा जा सकता है। इसलिए सन्तानोत्पत्ति और संतान-पालन को प्राकृतिक कार्य समझ कर उपेक्षा करना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। संसार के जीवन-क्षेत्र में जो दृढ़ता के साथ स्थिर रह सके और सफलता प्राप्त कर सके ऐसी सन्तान समाज को देना हमारा बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है।

पर आज अवस्था इसके प्रायः विपरीत दिखाई पड़ रही है। लोग सब से अधिक महत्त्व खाने कमाने की समस्या को देते हैं, इसके पश्चात् तरह तरह के शौकों को पूरा करने, समाज में प्रतिष्ठा और ऊँचा पद प्राप्त करने, भविष्य के लिए कुछ धन-सम्पत्ति जोड़ने आदि बातों की तरफ ध्यान जाता है। पर संतान पालन, जो समाज की प्रगति और उत्कर्ष का साधन है उस पर कोई ध्यान नहीं देते, और साधारण श्रेणी के लोगों में ही नहीं, बड़े-बड़े शिक्षित बौर बुद्धिमान लोगों में भी यही वृत्ति देखी जाती है। इसी को लक्ष्य करके इङ्गलैण्ड के एक बहुत बड़े ज्ञानी व्यक्ति श्री हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने 'शिक्षा' नामक ग्रन्थ में कहा है—

"वास्तव में बच्चों के पालन-पोषण के तरीके पर ही उनका जीना-मरना और उनका नैतिक उत्थान या पतन निर्भर करता है, पर उन लोगों को जो कुछ समय बाद माता पिता बनने वाले हैं, इस विषय का एक शब्द भी नहीं सिखाया जाता। यथा यह एक बड़ी भयङ्कर बात नहीं है कि एक नई पीढ़ी का भाग्य बुद्धिहीन प्रथाओं,

रुचि, विचार आदि के भरोसे छोड़ दिया जाय या उसके सम्बन्ध में मूर्ख दाइयों या पुरानी बुढ़ियाओं की सलाहों पर ही भरोसा कर लिया जाए। अगर कोई व्यापारी बिना हिसाब-किताब सीखे व्यापार करना शुरु कर दे तो हम उसकी मूर्खता पर आश्चर्य करते हैं और शीघ्र उसका दिवाला निकलने का अनुमान लगाने लग जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति शरीर शास्त्र का अध्ययन किए बिना ही डाक्टरी शुरु कर दे तो हम उसकी धृष्टता पर आश्चर्य करेंगे और उसके मरीजों पर तरस खाएगें। पर माता-पिता संतान की किसी प्रकार की शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक शिक्षा प्राप्त किए बिना ही सन्तानोत्पादन के महत्त्वपूर्ण कार्य का भार उठा लेते हैं, तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं जान पड़ता।''

इस महान दार्शनिक ने जो बातें अब से काफी समय पहले लिखी थीं वे आज हमारे देश पर पूरी तरह लागू हो रही हैं। यहाँ के अधिकांश माता-पिता संतान पालन के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं और फिर छोटी अवस्था से एक सन्तान पर दूसरी सन्तान उत्पन्न करते चले जाते हैं। उनको न सन्तानोत्पत्ति के पूर्व की जाने वाली तैयारी का कुछ पता होता है और न वे जरा भी उसके पालन पोषण की ठीक विधि को जानते हैं। इस प्रकार यहाँ के ९५ प्रतिशत बच्चों का निर्माण संयोग पर निर्भर रहता है। अधिकांश माताएँ आरम्भ से बच्चों को नियमित आदतें डालने का प्रयत्न नहीं करती और नतीजा यह होता है कि थोड़े समय बाद ही बच्चा बार-बार रोने, और समय कुसमय खाने को माँगने लग जाता है। माता भी बिना यह विचार किए कि वह भूख से रो रहा है, या प्यास से, या किसी प्रकार की शारीरिक अस्वस्थता के कारण, झट से उसके मुँह में स्तन या दूध की शीशी दे देती है इससे बच्चे का उस समय का रोना तो बन्द हो जाता है, पर आगे चलकर यह आदत और भी बढ़ने लगती है। ऐसे बालक की पाचन शक्ति शीघ्र ही खराब हो जाती है और बड़ा होने पर वह कब्ज जैसे रोग का शिकार हो जाता है, जिससे सदैव नए-नए रोगों का जन्म होता रहता है। इसी प्रकार जिस बच्चे को बचपन में मुँह ढक कर सुलाया जाता है और खुली हवा से सदैव

पृथक रखा जाता है उसे आगे चलकर खाँसी, दमा आदि दुःखदायी रोगों को सहन करना पड़ता है। ऐसे अभागे बालक अपने घर वालों के लिए ही भार स्वरूप नहीं बन जाते पर निःसत्व और शक्तिहीन बन कर वे बड़े होने पर समाज और देश के प्रति भी अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकते। इस प्रकार अज्ञानी माता-पिता अपने लिए तरह-तरह के कष्टों की जड़ जमा कर देश और जाति के प्रति भी शत्रुता का आचरण करते हैं।

भारतीय स्त्रियाँ सन्तान पालन में जो सफल नहीं हो पाती उसका एक कारण यह भी है कि यहाँ बालिकाओं का विवाह प्रायः अपरिपक्व अवस्था में ही कर दिया जाता है और उस स्थिति में सन्तानोत्पत्ति होने से उनको जननेन्द्रिय सम्बन्धी अनेक शिकायतें उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे उनका स्वास्थ्य गिर जाता है, स्वभाव चिड़-चिड़ा हो जाता है और वे कोई परिश्रम-साध्य कार्य करने के अयोग्य हो जाती हैं। फिर उनकी सन्तान भी प्रायः चिर रोगी ही बनी रहती है।

बड़े खेद का विषय है कि हमारी स्त्रियों को नए-नए फैशनों और विदेशी शृंगार सामग्री की रुचि तो शीघ्र ही लग जाती है, उनके पति भी मेमों की तरह स्वतंत्रता पूर्वक संग घुमाने में गौरव और प्रसन्नता का अनुभव करते हैं पर सन्तान पालन जैसी गृहस्थी की फसल बनाने वाली बात का ज्ञान भी उसे प्राप्त कराया जाए इसका किसी को स्वप्न में भी विचार नहीं आता। यह बात नहीं कि उनको अपने बच्चों से प्रेम नहीं होता, अथवा वे उनके लिए हर तरह का स्वार्थ त्याग नहीं करते, पर अज्ञानवश वे मोह के नाम पर स्वयं अपने बच्चों का अहित करने वाले बन जाते हैं। इसलिए हमारे देश की शिक्षा में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि लड़के लड़कियों को आरम्भ से ही इस आवश्यक विषय का महत्त्व प्रतीत होने लगे और विवाह होने के पहले तो उनको निजी तौर पर या तत्सम्बन्धी ग्रन्थों द्वारा इसका ठीक ज्ञान करा देना चाहिए। यह राष्ट्र के उत्थान-पतन से सम्बन्ध रखने वाली बात है और इसकी अवहेलना स्वयं अपना ही अनिष्ट करना कहा जाएगा।



बच्चे घर की पाठशाला में

घर बच्चे की प्रारम्भिक पाठशाला है जहाँ वह जीवन के महत्त्वपूर्ण पाठ सीखता है। स्कूल, कालेज, विद्यालयों में तो बालक का बौद्धिक विकास ही होता है, एक निश्चित पाठ्य-क्रम पूरा कर देना ही इनका ध्येय होता है। जिसका जीवन में सीमित उपयोग है, लेकिन घर की पाठशाला में सीखी हुई बातें तो बालक के जीवन का अङ्ग ही बन जाती हैं। वस्तुतः बालक के चरित्र, स्वभाव, उसके व्यक्तित्व की निर्माणशाला है घर, जबकि शिक्षाओं में एक स्तर तक बौद्धिक विकास ही हो पाता है।

जिस तरह अनुकूल जलवायु, मिट्टी एवं योग्य माली की देखरेख में छोटा सा पौधा बड़ा होकर फलने लगता है उसी तरह घर के उपयुक्त वातावरण में कुशल माँ-बाप के सान्निध्य में रहकर बालक का स्वभाव और उसका व्यक्तित्व, चरित्र उत्कृष्ट बनता है। लेकिन घर का गन्दा वातावरण माँ-बाप का पापमय जीवन बच्चे के लिए बुराइयों की ओर प्रेरित करता है। घर के वातावरण में घटने वाली सामान्य घटनाएँ, अभिभावकों के व्यवहार, रहन सहन, आचरणों का बच्चे के मानस पटल पर बड़ा स्थायी प्रभाव पड़ता है।

जिस घर का वातावरण बड़ा सौम्य, शान्त और मधुर होता है, जहाँ लोगों के परस्पर प्रेम, सेवामय जीवन सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध होंगे वहाँ बालक के मानसिक विकास में बड़ा योग मिलता है। जहाँ बच्चे को उन्मुक्त होकर सहज जीवन बिताने दिया जाता है जहाँ उसे सबका स्नेह मिलता है, जहाँ बालक निर्भय-जीवन बिताता है ऐसा वातावरण बालक के व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास करने में बड़ा ही सहायक सिद्ध होता है।

लेकिन उस घर में नित्य कलह, अशान्ति, परस्पर तनातनी, झगड़ा रहता है, जहाँ बालक को स्नेह शून्य सखा विहीन जीवन बिताना पड़ता और कठोर व्यवहार का सामना करना पड़ता है वहाँ उसका विकास होना तो दूर उल्टे मानसिक क्षमताएँ, बौद्धिक प्रतिभा व्यक्तित्त्व सब कुण्ठित हो जाते हैं।

जो माँ-बाप या अभिभावकगण परस्पर "तू-तू" "मैं-मैं" करते रहते हैं जिनमें परस्पर आए दिन लड़ाई झगड़े मार-पीट होती रहती है, जो एक दूसरे को मूर्ख एवं नीच सिद्ध करने के प्रयत्न करते रहते हैं, भद्दे आक्षेप करते हैं, उनके इस व्यवहार का बालकों के कोमल मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चे का अपरिपक्व मस्तिष्क इस तरह के व्यवहार को समझ नहीं पाता। इससे उसके मन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, जिसके फल स्वरूप माँ-बाप अथवा घर के अन्य सदस्यों के प्रति उसके मन में आदर भाव कम हो जाता है। सम्मान की भावना घट जाने से बच्चों में अश्रद्धा भी पैदा हो जाती है। श्रद्धा के बिना विश्वास स्थिर नहीं रहता। श्रद्धा और विश्वास रहित ये बच्चे मां-बाप की अवहेलना करने लगते हैं, अनुशासनहीन बन जाते हैं। यह स्थिति परिवार तक ही सीमित नहीं रहती वरन् सम्पूर्ण समाज की मर्यादाओं के प्रति ही ये बालक आगे चलकर आवारा और उच्छृङ्खल बन जाते हैं।

घर का कलह, परिवार के सदस्यों का परस्पर दुर्व्यवहार, बच्चों में अश्रद्धा, अविश्वास, अनुशासनहीनता, उच्छृङ्खलता आदि बुराइयों को जन्म देता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि पति-पत्नी के बीच होने वाली तकरार अथवा परिवार में होने वाला कलह सर्वथा दूर करने का प्रयास किया जाए। यदि कुछ इस तरह की बात हो भी जाए तो बच्चों के सामने उसे न आने दें। जिस तरह किसी मेहमान के सामने अपने घर की लड़ाई को छिपा लिया जाता है उसी तरह बच्चों के समक्ष भी ऐसा ही करना चाहिए। अपने घर की बात तो दूर रिश्तेदार अथवा पड़ोसियों के झगड़े की बात को बच्चों तक नहीं आने देना चाहिए।

अभिभावकों को चाहिए कि बच्चों के समक्ष अपनी कोई चारित्रिक कमजोरी प्रकट न होने दें। बच्चा कितना ही अबोध क्यों न हो, उसके समक्ष परस्पर प्रेम प्रदर्शन, अश्लील हाव-भाव अथवा गलत आचरण कभी न किया जाए। बच्चे की मनोभूमि इतनी ग्रहणशील होती है कि जाने-अनजाने वह इनको सहज ही अपना लेती है। जहाँ तक बने दुर्व्यसनों को तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए, फिर भी कोई बुराई

न छूटे तो इतना तो ध्यान रखना चाहिए कि बच्चों के समक्ष उसे व्यक्त न होने दें। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि कोई भी व्यसन एकान्त में पूरा किया जाए, बच्चों के समक्ष नहीं।

बच्चों के समझदार और कुछ बड़े हो जाने पर उनके लिए सोने की व्यवस्था अलग कर देनी चाहिए। समझदार बच्चों को एक ही कमरे में लेकर न सोया जाए। क्योंकि पति-पत्नी के गुह्य सम्बन्धों का बच्चे पर बुरा असर पड़ता है। इसके साथ-साथ बच्चों को नङ्गा नहीं रखना चाहिए। इससे असमय में ही बच्चों में यौन-भावनाएँ जाग्रत हो जाती हैं जो उन्हें कई बुराइयों की ओर प्रवृत्त कर देती हैं।

अभिभावकों माता-पिताओं को चाहिए कि बच्चों की विधिवत् दिनचर्या बनाकर उसके अनुसार उन्हें चलाने की व्यवस्था करें। बच्चों के खाने, पीने, सोने, पढ़ने, खेलने, आदि का समय नियत कर देना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही अभिभावकों का स्वयं का जीवन भी व्यवस्थित, नियमित होना चाहिए। उनका आदर्श ही बच्चों को नियमित जीवन बिताने के लिए प्रेरणादायी होगा। बच्चे अपने नियमित कार्यक्रम में गफलत करें तो उसे टोक कर नियमानुसार जीवन बिताने को कहना चाहिए। लेकिन सोने के समय पढ़ने अथवा खेलने के समय घर का काम करने की आज्ञा देने की भूल नहीं करनी चाहिए। बच्चे को उसकी नियम, व्यवस्था के अनुसार चलने देना चाहिए। यदि कोई आवश्यक काम ही आ पड़े तो बात दूसरी है अन्यथा बच्चों के कार्यक्रम में यथासम्भव व्यवधान पैदा नहीं करना चाहिए।

किसी तरह के भय अन्धविश्वास या गलत धारणा का आश्रय लेकर बच्चों को निर्देश नहीं देना चाहिए। भले ही वह उनके हित में ही क्यों न हो। भूत, चुड़ैल, कीड़े, मकोड़े या हौवा आदि का भय बच्चों को नहीं दिखाना चाहिए। बचपन में जमी हुई भय की भावना जीवन भर नहीं निकल पाती है। बचपन के समय अवचेतन मन में समाया हुआ इस तरह का भय तगड़े, तन्दुरुस्त, मोटे-ताजे व्यक्तियों को भी अन्धेरे में एकान्त में कोई छोटा-मोटा जानवर देख लेने पर परेशान करता है। स्वयं अभिभावकों को भी इस तरह के भय प्रदर्शन से बच्चों के समक्ष बचना चाहिए।

माता-पिता या अभिभावकों की भावनाओं का उनके व्यवहार का भी बच्चों के जीवन पर बड़ा असर पड़ता है। वस्तुतः घर की पाठशाला में अभिभावकों का जीवन ही बच्चों की प्रथम पुस्तक होती है। बच्चों के साथ ही नहीं, माँ-बाप दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, बाल मन पर भारी प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में एक घटना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। एक धनिक व्यक्ति लेन देन के मामले में एक गरीब व्यक्ति को बड़ी गालियां दे रहा था। उसने उसे नौकरों से पिटवाया और धक्के देकर निकाल दिया, उसका गिरवी रखा हुआ जेवर धनिक ने हड़प लिया। गरीब बेचारा रोता चिल्लाता चला गया। बालक का कोमल हृदय यह सब सहन नहीं कर सका और अपने पिता के प्रति उसके हृदय में कटुता और घृणा की भावना पैदा हो गई। वह विद्रोही बन गया। बाप का कहना सुनना उसे बुरा लगता। ऐसे काम वह करता जिससे धनी पिता को क्लेश होता, पिता की परेशानी से प्रसन्नता होती। अन्त में परिस्थिति यहाँ तक आ गई कि बड़ा होने पर उसने सारे धन पर कब्जा कर लिया और पिता को बीमारी में तड़पकर प्राण छोड़ने पड़े लेकिन उसके हृदय पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

उस बहू की कहावत प्रसिद्ध है जो अपने अन्धे स्वसुर को मिट्टी के पात्र में भोजन देती थी। एक दिन मिट्टी का पात्र फूट गया तो वह बहुत झल्लाई, कई गालियाँ दीं। उसने लकड़ी का पात्र मँगवा दिया और चौके से बाहर भोजन दे दिया। उसका अबोध बालक यह सब देख रहा था। दूसरे दिन वही बालक एक लकड़ी के तख्ते को पत्थर से ठोक पीट रहा था। माँ ने पूछा बेटा क्या कर रहा है? बालक ने अपनी बालसुलभ भाषा में कहा—"अम्मा मैं लकड़ी की थाली बना रहा हूँ। जब तू बूढ़ी हो जाएगी तो इसी में भोजन परसा करूँगा। वह स्त्री हक्की-बक्की रह गई और उसी दिन से वृद्ध स्वसुर को अच्छे पात्रों में आदर सहित भोजन देने लगी।

माता-पिता द्वारा नौकर, पड़ोसी, सम्बन्धी, दुकानदार, जन-साधारण से किया जाने वाला व्यवहार बच्चे के कोमल मस्तिष्क पर बहुत बड़ा प्रभाव डालता है। आवश्यकता इस बात की है कि हमें

अपने सम्पूर्ण जीवनक्रम में, व्यवहार में पर्याप्त सुधार करना होगा। कोई ऐसा दुर्व्यवहार न बन पड़े जिससे बच्चे पर विपरीत असर पड़े, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा, यदि हमें अपने बच्चों के चरित्र व स्वभाव व्यक्तित्व को उत्तम बनाना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बच्चे पैदा होने पर माँ-बाप के ऊपर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है, वह है बच्चों को उत्कृष्ट व्यक्तित्व प्रदान करना, उनके स्वभाव और चरित्र को उत्तम बनाना और यह सब घर की पाठशाला में व्यवहारिक शिक्षा से ही सम्भव है।

बहुत से माता-पिता अपने बच्चे को किसी बोर्डिङ्ग हाउस या अपने से दूर किसी प्रसिद्ध स्कूल में भेजते हैं इसलिए कि बच्चा घर पर भली प्रकार नहीं पढ़ता। समय पर स्कूल नहीं पहुँचता। अपनी पढ़ने की पुस्तकें तथा अन्य वस्तुएँ खो देता है। आवारा लड़कों में घूमता है। घर वालों की आज्ञा का पालन नहीं करता। कई लोग तो बच्चे के हित की दृष्टि से नहीं वरन् उससे पीछा छुड़ाने, उसकी आदतों से परेशान होकर अपना सर दर्द दूर करने की दृष्टि से बालक को अन्यत्र भेज देते हैं। कई अभिभावक अपने पास अधिक धन होने के कारण बच्चे को बहुत छोटी उम्र में ही अपने से दूर पढ़ने और योग्य बनने के लिए भेज देते हैं। कुछ भी कारण हो लेकिन बच्चों को कच्ची उम्र में जब तक वह समझने-बूझने लायक नहीं हो पाता है। अपनी छत्रछाया से दूर करना अभिभावक की बड़ी भारी भूल है। किसी भी संस्था, स्कूल, विद्यालय, बोर्डिङ्ग आदि में बच्चों के पढ़ने, लिखने, नियमित जीवन बिताने तथा सदाचार की बाह्य शिक्षा व्यवस्था भले ही हो किन्तु उन्हें उत्कृष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने सफल जीवन बिताने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए माता पिता अभिभावकगण जो कुछ कर सकते हैं वह कहीं भी नहीं हो सकता। सचमुच अपने परिवार के सदस्यों से अधिक बच्चे के भविष्य की चिन्ता और उस दिशा में आवश्यक प्रयत्न अन्य कोई भी नहीं कर सकता। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि बच्चे को एक निश्चित आयु तक जब तक उसका मस्तिष्क प्रौढ़ और परिपक्व न हो जाए, उसे घर की सीमा से बाहर नहीं भेजना चाहिए।

बच्चों के जीवन को उत्कृष्ट बनाने की जिम्मेदारी जिस तरह माता-पिता निभा सकते हैं उससे अधिक दूसरा नहीं निभा सकता। इसके अतिरिक्त बाह्य वातावरण में बच्चे को भले ही कितनी अच्छी शिक्षा क्यों न मिले वह मौखिक होने से अस्थायी होती है। स्थायी और सच्ची शिक्षा तो बच्चा अभिभावकों के संरक्षण में, उनके व्यवहारिक जीवन से ही सीख पाता है। वैसे स्कूल, बोर्डिङ्ग, शिक्षा संस्थाएँ उपयोगी होती है किन्तु बच्चों के निर्माण का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व इन पर नहीं छोड़ा जा सकता। वस्तुतः बच्चों के चरित्र निर्माण में माता-पिता के स्नेह से युक्त शान्त सुखदायी घरेलू वातावरण का बहुत बड़ा महत्त्व है।



शान्ति, स्नेह और सौम्यता के प्यासे बालक

"पीस इन द होम लीग" नामक एक सङ्गठन बनाकर शिकागो में कुछ बच्चों ने निश्चय किया है कि वे अपने घरों में शान्ति का वातावरण बनाए रखने के लिए प्रयत्न और आवश्यकतानुसार सत्याग्रह करेंगे।

बच्चों के इस प्रकार के सङ्गठन और उनके इस सङ्कल्प को बाल-स्वभाव कह कर उपेक्षा की जा सकती है; किन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए, तो पता चलेगा कि इस तरह के प्रयत्न के पीछे बच्चों की कौन-सी आन्तरिक पीड़ा उद्भासित हो रही है।

बात यह है कि इन दिनों यूरोप के अन्य भागों की तरह शिकागो में भी चमक-दमक, रूप-सज्जा, वासना-विलासितापूर्ण जीवन का ओछापन बढ़ रहा है, जिससे पारिवारिक बन्धन, दाम्पत्य प्रेम और परस्पर आत्मीयता के भाव नष्ट हो रहे हैं, स्वार्थ के साथ कलह, कपट, कुविचार और दुष्कर्मों का प्रवाह बढ़ रहा है। कहना न होगा कि इसका सबसे कटु प्रभाव सौम्य एवं सुकोमल चित्त बालकों पर ही पड़ता है। वे अपने माता-पिता के प्रति ही नहीं

समाज के प्रति भी उदासीन होने लगते हैं, यही वृत्ति धीरे-धीरे उद्दण्डता और अपराध में परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रकार के प्रयास का मूल सङ्कल्प ऐसे ही कारणों से भोले भाले बच्चों के मन में पैदा हुआ। इस लीग के प्रधान १४ वर्षीय बालक "हीदर ग्रे" ने बताया कि हमारे माता पिता आपस में झगड़ते हैं या अपने अपने स्वार्थ को लेकर कलह और मनोमालिन्य उत्पन्न करते हैं तो घर में जो क्षोभ और दुराशा का वातावरण बनता है, उससे हमें घुटन अनुभव होती है। यदि एक का पक्ष लें तो दूसरे के कडुवे बनें, जबकि दोनों ही बाहें अपनी हैं। माँ से बिछुड़ें तो पिता के स्नेह, प्रेम और आदर से वंचित पिता से हृदय जोड़ कर रखें तो माँ के वात्सल्य सौम्यता और दुलार को खोएँ। हमारे लिए दोनों ही स्थितियाँ कष्टकारक हैं इसलिए अब बुराई के विरुद्ध सत्याग्रह करने का निश्चय किया है।

'हीदर ग्रे' जब अपने परिवार और बालकों की इस मनोदशा का वर्णन कर रहा था तो भावातिरेक से बार-बार उसके आँसू भर आते थे, गला रुँध जाता था। इससे पता चलता था, बच्चों के लिए प्रेम, स्नेह, शान्ति और सौम्यतापूर्ण व्यवहार का कितना अधिक महत्त्व है, इन रसभरी भावनाओं का आकर्षण हो तो बच्चों को महान् व्यक्तित्व बड़ी सुगमता से प्रदान किया जा सकता है।

पारिवारिक जीवन में दुराग्रहों, दुष्प्रवृत्तियों के बढ़ने की यह स्थिति कितनी चिन्ताजनक है और उस दिशा में अभिभावकों को कितनी जिम्मेदारी का पालन करना चाहिए, इसका अनुमान इस समाचार से होगा। बच्चों ने निश्चय किया है कि झगड़ालू माता-पिताओं को यह दण्ड देंगे कि उनके बच्चे उनके प्रत्येक झगड़े के बाद एक सप्ताह तक बात नहीं करेंगे। यह दण्ड यद्यपि बालकों की आत्मपवित्रता के अनुरूप ही है, पर इससे उन अभिभावकों पर कितना प्रभाव पड़ेगा कहा नहीं जा सकता, यदि वे स्वयं स्थिति की गंभीरता को नहीं अनुभव करते और अपनी मनोवृत्तियां बदलने के लिए स्वेच्छा से राजी नहीं होते।

यदि पति-पत्नी एक समझौता करलें कि अपने बच्चों को पोषण, विकास और उन्हें सज्जन, उदार, सद्‌गुणी बनाने के लिए वे परस्पर अत्यधिक प्रेम, सौजन्यता, उदारता और आत्मीयता का जीवन जिएँगे और भोग वासना आदि कलह बढ़ाने वाले और प्रेमस्खलित करने वाले कारणों को जन्म नहीं देंगे तब तो बच्चों का यह सत्याग्रह भी सफल हो सकता है अन्यथा बालक तो बालक ही है इससे अधिक बेचारे और क्या कर सकते हैं?

यह बात सुनने में तो जरूर कुछ अटपटी सी लगेगी कि 'प्रेम' और 'दुश्मनी' क्या अजीब बात है। किन्तु है यह नितान्त सत्य कि कुछ अभिभावक प्रेम के नाम पर बच्चों से दुश्मनी करते हैं। अर्थात् उनका प्रेम प्रदर्शन कुछ इस प्रकार का होता है, जिससे कि उन्हें बड़ी हानि होती है।

कुछ अभिभावकों का स्वभाव होता है कि वे बच्चों के खाने-पीने का बड़ा ध्यान रखते हैं। ध्यान इस माने में नहीं कि उसने ठीक समय पर खाना खाया है या नहीं। वह कोई ऐसी चीजें तो नहीं खा-पी रहा है जो उसके स्वास्थ्य के लिए अहितकर हों। ध्यान इस बात का रखते हैं कि क्या बात है कि बच्चे ने आज ठीक से नहीं खाया, क्या कुछ पसन्द नहीं आया? न हो तो, कुछ अच्छी चीज बनवा दी जाए या बाजार से ही कुछ बढ़िया चीज ले दी जाएँ।

ऐसा करने से बच्चे चटोरे और तरह-तरह की चीजें खाने के आदी हो जाते हैं। उनको स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य की चीजों का ज्ञान नहीं रहता। वे अपव्ययी और बाजारू हो जाते हैं, जिससे उन्हें घर की बनी सामान्य और साधारण चीजें अरुचिकर हो जाती हैं।

बहुत से अभिभावक तो बच्चों को बार-बार खिलाते हैं। माँ खाती है तो अपने साथ खिलाती है, पिता खाने बैठता है तो अपने साथ बिठाल लेता है और अलग से तो उसे भोजन करना ही पड़ता है। यही नहीं कि माता-पिता अपने साथ केवल बिठाल ही लेते हों। जब तक स्वयं खाते हैं तब तक उसे भी खिलाने की कोशिश करते हैं और यदि वह नहीं खाता तो उसे प्यार से अनुरोध करके या पैसे देने का वायदा करके खाने को विवश करते हैं और इस प्रकार जब

उसकी पाचन क्रिया बिगड़ जाती है तो तरह-तरह की दवाइयाँ खिलाकर भूख बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं।

बहुत से अभिभावक बहुत सी चीजें बच्चों को खिलाते-पिलाते रहते हैं। जैसे अभी चाय पिलाई गई तो कुछ देर बाद उसे दूध पिलाते है, फिर नाश्ते का नम्बर आता है। पुनः मैं तुम्हारे लिए केले लाया था खा लिए या नहीं? और "जाओ, माँ से अपनी मिठाई का हिस्सा तो ले लो जाकर" यानी उनका वे खाने-पीने का कुछ ऐसा क्रम लगा देते हैं कि बच्चे को आध घन्टे का भी अवकाश बिना खाए नहीं मिलता।

बहुत से माता-पिता विश्वास रखते हैं कि बच्चा जितनी बार और जितना अधिक भोजन करेगा, वह उतना ही तन्दुरुस्त और ताकतवर होगा। इसलिए वे उसे बार-बार प्रेरित करके दो-तीन बार से ज्यादा भोजन करने को विवश करते हैं।

कुछ अभिभावक दूध, दही, घी, मलाई, मक्खन आदि गरिष्ठ वस्तुओं का बहुत प्रयोग ही स्वास्थ्य का आधार मान लेते हैं और उन्हें खूब खिलाते हैं। वे उसकी औकात और उसकी पाचन-शक्ति का विचार बिल्कुल नहीं रखते। उनकी इस प्रकार की भोजन सम्बन्धी चिन्ता और तत्परता बच्चे के स्वास्थ्य को ठिकाने लगा देती है। किन्तु बच्चे के प्रति उनका असीम प्रेम उन्हें इस दिशा में सोचने की नहीं देती।

बहुत से अभिभावक बच्चों को बहुत ही कीमती वस्तु पहनाने में संतोष अनुभव करते हैं। उनका दृष्टिकोंण उपयोगिता का नहीं, तड़क-भड़क और शान-शौकत और प्रदर्शन का रहता है। वे बच्चों को स्वयं बाजार ले जाते हैं और अच्छे से अच्छे कपड़े खुद उनसे पसन्द करा कर खरीदते हैं फिर वे चाहे कितने ही कीमती, कमजोर और अनुपयोगी क्यों न हों। अभिभावकों की इस दुर्बलता से दुकानदार खूब लाभ उठाते हैं। वे बच्चों की पसन्द के कपड़ों का अच्छा खासा मूल्य वसूल करते हैं कि जो कपड़ा बच्चा पसंद कर लेगा, लेने से इन्कार नहीं कर सकते। इधर इस छूट के कारण बच्चे वस्त्रों की उपयोगिता उनसे सम्बन्धित मितव्ययता और उनके मजबूत

व टिकाऊ होने के विचार से वंचित रह जाते हैं और जीवन भर इसका महत्त्व नहीं जान पाते हैं। साथ ही वे आदत से फैशनेबुल, दिखावा पसन्द और तड़क भड़क वाले बन जाते हैं। जो उनके लिए आगे चलकर अहितकर होता है। ऐसे वस्त्रों की सिलाई और धुलाई पर भी बहुत खर्च होता है।

बच्चों के पास बहुत से फैशनेबुल दिखाऊ और कीमती कपड़े होने से, वे उनको बार-बार पहनने, बदलने और दिखाने में ही लगे रहकर अन्य कामों की ओर बहुत कम ध्यान दे पाते हैं। साथ ही कपड़ों की बहुतायत होने से, उनको ठीक से रखने और ठीक से उपयोग करने की ओर से लापरवाह हो जाते हैं। बहुत अच्छे कपड़े पहने होने के कारण कोई काम करते वक्त उनका ध्यान कपड़ों की ओर अधिक काम की ओर कम रहता है, जिससे कोई काम वे सुचारु रूप से नहीं कर पाते फलतः किसी काम में दक्ष भी नहीं होने पाते।

इसके अतिरिक्त वे असाधारण कपड़ों वाले अन्य बच्चों से अपने को श्रेष्ठ और अमीर समझते हैं जिससे उनके स्वभाव में विषमता का भाव पैदा हो जाता है और वे अपने साथियों को भी हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। उनका अभिमान उनके व्यवहार में व्यक्त होने से दूसरे बच्चे उनसे ईर्ष्या और घृणा करने लगते हैं। इस प्रकार से दोनों ओर से विषमता की खाई और चौड़ी हो जाती है। कुछ बच्चों पर इसकी प्रतिक्रिया हीन भाव के रूप में भी होती है। जिससे वे अपने भाग्य और अभिभावकों को मन ही मन कोसने लगते हैं। इस प्रकार भावों में एकता का अभाव हो जाने से समाज में बहुत तरह के असंतोष पैदा हो जाते हैं, जो सामाजिक दृष्टिकोंण से बहुत अहितकर हैं।

अब आती है बच्चों के जेब खर्च की बात। सब कुछ अच्छा पहनने ओढ़ने के बाद अगर बच्चे की जेब में खाने उड़ाने के लिए पैसे नहीं हैं, तो कोई बात ही नहीं बनती। स्कूल चलते वक्त या कहीं जाते समय बच्चों को कुछ पैसे देना एक साधारण सी बात है। जब बच्चा हर तरह खूब खा-पीकर स्कूल जा रहा है तब उसको कुछ खाने के लिए पैसे देने का ठीक-ठीक अर्थ है कि वह उन पैसों को

बिल्कुल फिजूल में खर्च करे और आगे के लिए अपनी आदत बिगाड़ ले, लेकिन क्या किया जाए, माता पिता का जी नहीं मानता कि बच्चा घर से खाली जेब स्कूल जाए, क्या पता उसका जी कुछ खाने को करने लगे। या दूसरे बच्चे जब खर्च करेंगे तो वह क्या उनका मुँह ताकेगा? इस प्रकार भविष्य भाव से वे उसे जेब खर्च के नाम पर कुछ फिजूल खर्च अवश्य देते हैं।

इतने पर भी वह बहुत कहने-सुनने पर भी नाश्ता स्कूल नहीं ले गया है तो किसी के हाथ भेजेंगे या खुद लेकर जाएँगे। उन्हें यह विश्वास किए वगैर धैर्य ही नहीं आता कि थोड़ी देर बाद स्कूल में उसे भूख जरूर लगेगी। यद्यपि भूख बहुत देर तक बच्चे के आसपास से भी गुजरने की कोई सम्भावना नहीं होती तथापि प्रेमवश अभिभावकों को अपनी कल्पना में वह भूख से तड़पता नजर आता है। इस प्रकार का प्रेम उसके स्वास्थ्य के पीछे लट्ठ लिए घूमने के सिवाय और क्या उपकार कर सकता है?

यदि स्कूल से आने में उसे किसी कारणवश पन्द्रह मिनट की भी देर हो गई तो बस दौड़े-दौड़े स्कूल पहुँचे और उसे अपनी हमराही में घर लेकर आए। बच्चे के लिए इस प्रकार की चिन्ता उसे बिल्कुल निकम्मा और अबोध बना देती है। साथ ही उसे एक ऐसा बंधन हो जाता है कि वह दस-पन्द्रह मिनट को किसी खेल या मैच वगैरह में ठहर भी नहीं सकता।

कुछ अभिभावक, जरा सरदी बढ़ जाने अथवा पानी बरस जाने से बच्चे को स्कूल जाने से रोक लेते हैं और यह कहकर घर में ओढ़-लपेटकर बैठ रहने का निर्देश कर देते हैं कि कहीं सरदी लग जाएगी या जुकाम हो जाएगा। इस प्रकार के निरर्थक बचावों और हिफाजत से बच्चा बिल्कुल सुकुमार और असहिष्णु हो जाता है। जब तब सरदी-गरमी का बहाना करके पढ़ने से जी चुराने लगता है।

कुछ अभिभावकों का स्वभाव होता है कि बच्चे के छींकने या खाँसते ही उसकी नब्ज पर हाथ रखते रहते हैं, जिससे बच्चे के मन में सदैव ही बीमारी की एक आशंका लगी रहती है तो उसके स्वास्थ्य पर सबसे बुरा असर डालती है।

फिर यदि जब कभी वह खेलने-कूदने की इच्छा करता है तो उसे यह कहकर निरुत्साहित कर देते हैं कि बच्चों का खेलना ठीक नहीं, खेलने से चोट लग जाती है। इस प्रकार अभिभावकों द्वारा प्रेमवश उसके स्वास्थ्य के साथ किए गए अन्याय के निराकरण की जो थोड़ी बहुत आशा की जा सकती थी, वह भी उसके खेलने-कूदने पर प्रतिबन्ध लग जाने से समाप्त हो गई। अतः इस प्रकार का सारा लाड़-दुलार मिलकर उसे अस्वस्थ कर ही देता है।

और तब बड़ी चिन्ता से अच्छे से अच्छे डाक्टर के पास से दवा लाएगें, किन्तु खिलाते या पिलाते वक्त बच्चे ने मुँह बिगाड़ कर यह कह दिया कि "यह तो कड़वी है हम नहीं पियेगे" कि बस एक आध बार तो औपचारिक ढंग से उससे पीने को कह दिया, नहीं तो अच्छा न पियो कल मीठी दवा ला देगें। दूसरी बार डाक्टर से बार-बार अनुरोध करके ऐसी दवा लाने की कोशिश करेंगे जो बिल्कुल शरबत की तरह मीठी और स्वादिष्ट हो और रुचिपूर्वक पी ले।

पथ्य में यदि बच्चे को कुछ खाना-पीना मना कर दिया गया है तो जितना कष्ट बच्चे को नहीं होगा उससे अधिक स्वयं उन्हें होगा। वे बच्चे के निराहार की कल्पना से त्रस्त हो उठेंगे और खाना नहीं खाने की बातें करके ही अपना और उसका मन बहलाएगें-क्या तुम्हें भूख तो नहीं लगी मुन्ने? जरूर लगी होगी। कल डाक्टर साहब से जरूर खाने के लिए कहेंगे। आज और धीरज रखो कल फिर खूब अच्छी-अच्छी यह चीजें वह चीजें खाने को देंगे। बाजार से अमुक की दुकान से अमुक चीज ला देंगे, यहाँ तक खाने-पीने की बात करेंगे कि इच्छा न होते हुए भी उसकी भोजन-वृत्ति जाग जाती है और तब उनका लाड़ला झूठी-भूख अनुभव करके खाने के लिए जिद करने लगता है, जिसका फल यह होता है कि माता से बचा तो पिता और पिता से बचा तो माता, भोजन अवश्य करा ही देती है। निदान रोग की आयु एक दिन से बढ़कर एक सप्ताह हो जाती है। किन्तु लाभ न होने की शिकायत डाक्टर से करते हैं, बहुत कुछ पूछने पर भी जहाँ तक सम्भव होता है अपने प्यार की कारगुजारी डाक्टर से छिपाये रहते हैं।

कोई कोई माता-पिता डाक्टर के बताये पथ्य में कुछ हल्का सा हेरफेर अपनी ओर से कर लेने में कोई हर्ज नहीं समझते। जैसे डाक्टर ने केवल परवल का पानी बतलाया है तो वे पानी को साधारण शोरबे का रूप देने को कोई अपथ्य नहीं मानते। यदि डाक्टर ने हल्की चाय बतलाई है तो वे बच्चे की कमजोरी दूर करने के विचार से दो चम्मच दूध बड़ा देना जरूरी समझते हैं। इस प्रकार यदि रोगकाल में, बच्चे को प्यार करने वाले अभिभावकों की क्रिया-कलाप का पूरा-पूरा ब्योरा दिया जावे तो स्पष्ट पता चल जाएगा कि बच्चे के प्रति उनके प्यार का क्या अर्थ है?

बहुत से अभिभावक बच्चों को घर से बाहर नहीं निकलने देते हैं जहाँ उन्होंने बाहर जाने का इरादा किया कि तत्काल आज्ञा दे दी, बाहर न जाना मुन्ने, तमाम इक्के ताँगे, मोटर रिक्शे निकलते रहते हैं, कहीं दब जाओगे या चोट-चपेट लग जाएगी। बेचारे सहम कर बैठे रहते हैं। इस प्रकार वे निहायत दब्बू और घबराने वाले बन जाते हैं और बाजार जाने तक में डरने लगते हैं।

बहुत से अभिभावक अपने बच्चों को बहुधा दूसरे बच्चों के साथ खेलने नहीं देते। उन्हें अपने बच्चों के सिवाय दुनिया के सब बच्चे लड़ाका और झगड़ालू दिखाई देते हैं। अपने बच्चों को रोकने के लिए वे ऐसा भाव उनके मस्तिष्क पर थोप देते हैं जिससे वह अन्य बच्चों को लड़ाका और झगड़ालू समझकर उनसे डरने लगते हैं। जिसका फल यह होता है कि वे अकेले पड़ जाते हैं और कुछ दिनों में उन्हें एकाकीपन का विषाद घेरने लगता है, वे उदास रहने लगते हैं और उनका सारा मानसिक विकास रुक जाता है।

कुछ अभिभावक यह पता लगाने की कोशिश करते हैं कि स्कूल में अध्यापक उनके बच्चों के साथ सख्ती का व्यवहार तो नहीं करते हैं और यदि कोई बच्चा कभी उसका आभास दे देता है तो वे मास्टर के पास उलाहना देने पहुँच जाते हैं और उसके साथ अच्छा व्यवहार करने की सिफारिश उसी के मुँह पर ही करने लगते हैं। जिसका फल यह होता है कि अध्यापक ऐसे बच्चों की ओर से उदासीन हो जाते हैं वे जिससे पढ़ने लिखने में बिल्कुल शून्य हो जाते हैं।

सारांश यह कि इस प्रकार लाडिले बच्चों के अभिभावक-गण, जितने भी उपाय, हर प्रकार से बच्चे की जिन्दगी खराब होने के हो सकते हैं, प्यार की संज्ञा देकर, कर उठाने में क़ोई कोर कसर बाकी नहीं रखते। अब वह अपने भाग्य से कुछ बन जाए तो दूसरी बात है।

अब यदि इन बातों पर गहराई से विचार किया जाए तो इस प्रकार का प्यार बच्चे के साथ दुश्मनी करने के सिवाय और क्या कहा जाएगा?



बालकों का समुचित विकास आवश्यक

समुचित विकास का अर्थ है बच्चे की शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक वृद्धि। जब तक जिसमें इन तीनों शक्तियों का संतुलित विकास नहीं होता उसका व्यक्तित्व अपनी चरम सीमा पर नहीं पहुँचता और जब तक व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती मनुष्य जीवन की महान् उपलब्धियों को प्राप्त नहीं कर पाता। समाज उसको या तो समझ ही नहीं पाता या समझने में भूल करता है। जिसका जितना ही उज्ज्वल चित्र समाज के सामने रहता है वह उतना ठीक पहचाना जाता है।

समुचित विकास के लिए बच्चे को प्रेरणा देने से पहले यह आवश्यक है कि शारीरिक विकास मानसिक विकास और बौद्धिक विकास का क्या अर्थ है? यह समझ लेना चाहिए।

शारीरिक विकास का अर्थ है—शरीर का सुगढ़, स्वस्थ और सशक्त होना। मानसिक विकास का अर्थ है मन का प्रसन्न, प्रफुल्ल, निर्भीक, साहसिक, विश्वस्त और स्थिर होना। बौद्धिक विकास का अर्थ है—किसी बात के ठीक-ठीक समझने-समझाने और निर्णय में बुद्धि का सक्षम होना और समुचित विकास का अर्थ है इन तीनों बातों का साथ-साथ समान रूप से वृद्धि पाना!

सबसे पहले बच्चे का शारीरिक विकास प्रारम्भ होता है। उसके बाद बौद्धिक और तत्पश्चात् मानसिक। इस क्रम से विकास होने के कारण शारीरिक विकास अन्य दोनों विकासों की आधार भूमि माना जाता है। अतएव अभिभावकों का पहला कर्त्तव्य है बच्चे के शारीरिक विकास पर समुचित ध्यान देना!

बच्चे को उसकी आयु के अनुरूप शुद्ध और सुपाच्य वस्तुएँ खिलाना चाहिए, क्योंकि प्रौढ़ों की पाचन शक्ति और बच्चों की पाचन शक्ति में अन्तर होता है। अधिकतर सभी घरों में सब को एक ही समान भोजन दिया जाता है। क्या बच्चे क्या प्रौढ़ एक ही प्रकार की बनी रसोई खाते हैं। न किसी के अलग भोजन की व्यवस्था होती है और न इसकी आवश्यकता अथवा महत्त्व समझा जाता है?

प्राय: सभी अभिभावक वही चीजें बच्चों को भी खिलाते हैं जो उन्हें पसन्द होती हैं। बच्चा यदि अपनी प्रकृति अथवा आयु के प्रतिकूल यदि कोई चीज नापसन्द भी करता है तब भी उसे थोड़ी-थोड़ी और बार-बार खिला कर उन चीजों का अभ्यास कराते हैं। वे सदैव यह चाहते रहते हैं कि बच्चा ठीक उनके ही अनुसार हर बात का अभ्यस्त होकर ठीक-ठीक उनका ही प्रति रूप बने। समान भोजन का अभ्यस्त बना लेने में उन्हें एक सबसे बड़ी सुविधा यह दीखती है कि बच्चे के लिए अलग से भिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाने का झंझट नहीं करना पड़ता। वे इसमें श्रम समय और पैसे की बचत की सुविधा देखते हैं, बच्चे के स्वास्थ्य को नहीं देखते। मिर्च मसालों वाला भोजन भी बच्चे को खिलाने में संकोच नहीं करते। यद्यपि वह मिर्च आदि मुँह में लगते ही रोने बिलबिलाने लगता है, तथापि उनको यह विचार नहीं आता कि यह चीज उसके प्रतिकूल है, नहीं खिलानी चाहिए। इसके विपरीत बहुतों का यह विश्वास होता है कि मिर्च मसालों से बच्चों की पाचन क्रिया को शक्ति मिलती है और उसकी जुबान खुलती है। यह भूल है। मिर्च मसाले बच्चे की पाचन क्रिया खराब कर देते हैं और उसके स्वस्थ बनने में बाधक होते हैं।

जब बच्चे का शारीरिक विकास समुचित रूप से होता चलेगा तो अन्य दो विकास भी ठीक-ठीक होंगे। भोजन का प्रभाव

मन और मस्तिष्क पर भी पड़ता है। जिस प्रकार का भोजन बच्चे को दिया जाएगा उसी प्रकार का उसका मन और मस्तिष्क बनेगा। "स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन और मस्तिष्क होता है" इस सिद्धान्त के अनुसार उसे केवल वे ही चीजें खिलाई जानी चाहिए जो उसके शरीर, मन और मस्तिष्क के अनुकूल हों। जिससे शरीर स्वस्थ, मन सबल और बुद्धि प्रखर बने!

बौद्धिक विकास के लिए उसे ऐसे वातावरण में रखना चाहिए जो उसके अनुकूल हो। उससे बुद्धि वर्धक बातें की जानी चाहिए और ऐसे खिलाया जाना चाहिए जिससे उसे थोड़ी बहुत बुद्धि का प्रयोग करना पड़े। व्यवहारिक बातों में, क्या कैसे होता है, ऐसा क्यों है, ऐसा क्यों नहीं होना चाहिए आदि तर्क पद्धति से सोचने और समझने का अभ्यस्त बनाना चाहिए। इससे उसमें विचार शक्ति का उदय होगा और वह हर बात पर विचार करने लगेगा। बुद्धि का अधिक से अधिक उपयोग ही बौद्धिक विकास का सबसे अच्छा साधन है।

उसे सामान्य रूप से उपयोग और प्रयोग में आने वाली चीजों का प्रारम्भिक ज्ञान कराया जा सकता है। जैसे दूध कैसे प्राप्त होता है, उसकी क्या उपयोगिता है? वह कब हानि और कब लाभ करता है? अच्छे और खराब दूध की क्या पहिचान है? अन्न कैसे उत्पन्न होता है, कौन सा अन्न कैसा होता है और उसकी क्या पहचान है? सब्जियाँ कैसे उगाई जाती है, कपड़ा कैसे बनता है, कापी, कागज, किताबें आदि किस प्रकार इस रूप में आती है आदि? तात्पर्य यह कि नित्य प्रति प्रयोग में आने वाली चीजों के माध्यम से उसमें ज्ञानोपार्जन की एक प्रगति का जागरण किया जा सकता है, जिससे आगे चलकर उसमें अधिकाधिक ज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाएगी और वह अध्ययनशील एवं अन्वेषणशील बन जाएगा जिससे उसके बौद्धिक विकास को पर्याप्त लाभ होगा।

पाठशाला में भेजने से पूर्व बच्चे को साल दो साल घर पर पढ़ा लेना चाहिए, जिससे कि शिक्षा के अनुकूल उसका बौद्धिक धरातल तैयार हो जाए। घर पर शिक्षा देने से इस बात का भी पता

लग जाएगा कि किन विषयों में उसकी विशेष रुचि है और कौन से विषय उसे कठिन पड़ते हैं। इसका पता लग जाने से शिक्षकों को उससे अवगत कराया जा सकता है जिससे शिक्षक को उसे समझने और पढ़ाने में सुविधा रहेगी! साथ ही जब कोई बच्चा कुछ अपनी योग्यता लेकर घर से पाठशाला जाएगा तो पढ़ना उसके लिए एक दम कोई नई वस्तु न होगी और वह कक्षा में ठीक से चल सकेगा। अधिकतर बच्चे ६,७ वर्ष की आयु पर पाटी पुजाकर पाठशाला की ओर हाँक दिए जाते हैं, जिससे वह नए काम और नई जगह के कारण घबड़ाता है रोता है और बचना चाहता है! नित्य प्रति पाठशाला जाने के समय अनुरोध का झंझट होता है, जिससे अभिभावक को झल्लाहट और बच्चे को अरुचि पैदा होती है और कभी-कभी तो माता-पिता परेशान होकर उसे शिक्षा के अयोग्य समझ कर इस ओर से उदासीन हो जाते हैं और यह धारणा बना कर पढ़ने से बिठाल लेते हैं कि इसके भाग्य में विद्या है ही नहीं। अस्तु पाठशाला भेजने से पहले यदि उसके अनुकूल उसका बौद्धिक धरातल घर पर ही तैयार कर दिया जाए तो इस प्रकार की सम्भावनाओं का अवसर ही न आए।

शिक्षा के विषय में केवल शिक्षालयों तथा शिक्षा पर ही निर्भर न रहना चाहिए। स्वयं भी देखना चाहिए कि उसका बच्चा पढ़ाई लिखाई में क्या प्रगति कर रहा है। कमजोर बच्चों को अभिभावकों को स्वयं पढ़ाई में कुछ न कुछ सहायता करनी चाहिए। साल बचाने के लिए एक कक्षा से दूसरी कक्षा में पहुँचाने के लिए व्यर्थ प्रयत्न न करना चाहिए। शिक्षा को योग्यता के मापदण्ड से नापना चाहिए न कि कक्षा की श्रेणी से। आशय यह है कि बच्चे के लिए शिक्षा की ऐसी अवस्थाओं और व्यवस्थाओं का प्रबंध करना चाहिए जिससे कि वे दिनों दिन योग्य बन सकें।

मानसिक विकास के लिए उन्हें अधिक से अधिक प्रसन्न एवं विशुद्ध वातावरण में रखने का प्रयत्न करना चाहिए। न उन पर इतना नियन्त्रण करना चाहिए कि वे मुरदा-तन हो जायें और न इतनी छूट देना चाहिए कि वे उच्छृङ्खल हो जाएँ। इन्हें भय से मुक्त करने के लिए साहस की कथाएँ सुनाई जानी चाहिए और उदाहरण देने

चाहिए। उन्हें किसी बात से सावधान तो करना चाहिए किन्तु भयभीत नहीं। धीरे-धीरे कठिन कार्यों का अभ्यस्त बनाना चाहिए। काम बिगड़ जाने पर उनका उपहास न करके उसके सुधार की शिक्षा देनी चाहिए और समुचित सराहना से प्रोत्साहित करना चाहिए। उनके सामने क्रोध, लोभ, स्वार्थ अथवा असद्भावनाओं की परिस्थितियाँ न आने देना चाहिए। उन्हें अच्छी बातों के लिए प्रोत्साहित और बुरी बातों के लिए हतोत्साहित करना चाहिए। उनके सामने कभी भी ऐसी बातें न की जानी चाहिए जिनसे उनके मन पर कोई बुरा प्रभाव पड़े। अभिभावकों को अपने व्यसनों की तुष्टि उनकी नजर बचाकर करनी चाहिए क्योंकि ऐसा न करने से वे भी व्यसनी बन सकते हैं और तब उन पर समझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।



बच्चों का पालन-पोषण कैसे करें

बच्चों के शारीरिक और मानसिक जीवन का गठन बहुत कुछ अभिभावकों पर निर्भर करता है। पालन पोषण से सम्बन्ध रखने वाली सामान्य सी बातें भी बच्चों के जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। वैसे प्रत्येक बच्चे के संस्कार, मूल प्रवृत्तियों में अपनी कुछ न कुछ विशेषताएँ ठीक उसी तरह होती हैं जैसे अलग-अलग चेहरे अँगूठे की अलग-अलग छाप। फिर भी माँ-बाप द्वारा बच्चों का पालन पोषण उनके विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अच्छी तरह खाद पानी देकर काट छाँट करके माली पौधों को अधिक उपयोगी और फलदायी बना देता है। उपेक्षा, साज-सम्हाल के अभाव में मूल्यवान पौधा सूख जाएगा या अविकसित, भौंड़ा रह जाएगा जिसमें मधुर फलों की भी कोई आशा नहीं की जा सकती। इसी तरह बच्चों का ठीक-ठीक पालन पोषण किया जाए, उनकी शिक्षा का समुचित ध्यान रक्खा जाए तो मनुष्य की शक्ल में पैदा होने वाला प्रत्येक बालक उत्कृष्ट और महान् व्यक्ति बन सकता है।

इसके विपरीत ठीक-ठीक पालन पोषण न होने पर बच्चों के निर्माण में ध्यान न देने से होनहार बालक भी अविकसित रह जाते हैं।

बाल्यकाल में जिन आदतों की नींव पड़ जाती है वे ही सारे जीवन पर अपना प्रभाव डालती रहती हैं। बचपन में पड़े संस्कार, भावनाएँ जीवन का एक प्रमुख अंग बन जाते हैं। वस्तुतः बाल्यकाल सम्पूर्ण जीवन की नीव है। बच्चों की कोमल मनोभूमि पर पड़े हुए विभिन्न प्रभाव उसके मानस पटल पर चित्रवत् अंकित हो जाते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी प्रभाव बच्चों पर पड़ता है वैसा ही वे बन जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बच्चों पर अच्छा प्रभाव पड़े, उन्हें अच्छाइयों की प्रेरणा मिले। यह सब माँ-बाप के ऊपर ही निर्भर है। बच्चों का पालन पोषण एक उत्तरदायित्व है। इसे पूर्ण करने के लिए उन्हें काफी समझदारी, ज्ञान, विचारशीलता से काम लेना आवश्यक है।

कई माता-पिता बच्चों पर आवश्यकता से अधिक प्यार, स्नेह, लाड़ करते हैं। हाँलाकि बच्चों के लिए स्नेह, प्यार, दुलार की उतनी ही आवश्यकता है जितनी उन्हें खिलाने पिलाने की। अभिभावकों के लाड़ प्यार से बच्चों का मानसिक विकास होता है। उनके जीवन में सरसता पैदा होती है उनका व्यक्तित्व पुष्ट बनता है किन्तु अमर्यादित लाड़ प्यार बच्चों के जीवन में अनेक बुराइयाँ पैदा कर देता है। जब अमर्यादित लाड़-प्यार से बच्चों को कोई काम नहीं करने दिया जाता, उनकी अनुचित माँगों को पूरा करने में कोई कसर नहीं रखी जाती तब उनके तनिक से रूठने मचलने या दूसरे बच्चों की शिकायत पर परेशान हो जाना, माँ-बाप की ऐसी भूल है जिससे बच्चों में अनेक बुराइयाँ, खराब आदतें पैदा हो जाती हैं। ऐसे बच्चे आत्मनिर्भर व स्वावलम्बी नहीं बन पाते। वे अपने प्रत्येक काम की पूर्ति दूसरों से चाहते हैं। परावलम्बन, आलस्य, आरामतलबी, फिजूलखर्ची आवरागर्दी आदि बुराइयाँ माँ-बाप की उन सामान्य-सी भूलों में ही पैदा होती हैं जो बच्चों में लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा

में उन्होंने लाड़ प्यार वश कीं। यह एक आम बात है कि "लाड़ले बच्चे अक्सर बिगड़ जाते हैं।" ऐसे बच्चों में जिन्दगी के कठिन दिनों चलने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

प्रत्येक बालक में अपनी एक जन्म-जात प्रतिभा होती है। एक विशेषता होती है। बच्चे की इस मूल-भूत प्रतिभा, प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर उसी दिशा में उसे बढ़ाया जाए तो वह एक दिन असाधारण स्थिति प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत यदि बालक को उसकी मूल प्रवृत्ति, प्रतिभा के विपरीत चलाया जाएगा तो वह विशेष सफलता, विकास की स्थिति प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। वह बेचारा सामान्य-सी घिसी-पिटी जिन्दगी ही व्यतीत करेगा। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि माता-पिता बच्चे की मूल प्रवृत्ति, मूल प्रतिभा को जानें, पहिचानें और उसी के अनुरूप उसे विकसित होने की दिशा, साधन, सुविधाएँ प्रदान करें। जो मां-बाप अपने ही दृष्टिकोण से अपनी इच्छानुसार बच्चे का भविष्य देखना चाहते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। इंजीनियर का लड़का इंजीनियर बने, कलाकार और वकील का लड़का भी वकालत करे यह कोई नियम नहीं है। रुचि, प्रतिभा, मूल प्रवृत्ति अभिभावक और बच्चे के कार्यक्रमों में असमानताएँ रहनी स्वाभाविक ही हैं। अतः एकांगी निर्णय, एकांगी दृष्टिकोण से बच्चे के भावी जीवन की रूपरेखा न बनाई जाए। संगीत प्रतिभायुक्त बच्चों को क्लर्क, राजनीतिज्ञ बनाना, संवेदनशील भावुक कोमल हृदय बच्चों को डाक्टर बनाना, चिन्तनशील दार्शनिक विचारक बच्चों को तराजू तोलने की दुकान पर बैठाना अभिभावकों की बड़ी भारी भूल है। इससे बच्चों की मूलभूत प्रतिभा का विकास नहीं होता वे सामान्य सा जीवन ही बिताते रहते हैं।

बच्चों को अपने बाल साथियों में न खेलने देना, दूसरे बच्चों से मिलने, जुलने से रोकना भी ठीक नहीं। परस्पर दूसरे बच्चों में मिलने-जुलने से ही बालकों का विकास होता है। उनमें मेल-जोल की वृत्तियाँ पैदा होती हैं। किन्तु कई अभिभावक संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण, बच्चों के बिगड़ जाने के भय से, आवारा बन जाने की शंका ने बच्चों को दूसरे बच्चों से मिलने-जुलने नहीं देते। उन्हें बार-

बार डाटते फटकारते हैं और रोकते हैं। इससे बच्चों में कई मानसिक विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं। ऐसे बच्चे आगे चलकर अन्यमनस्की, एकाकी, असामाजिक वृत्ति के बन जाते हैं। वे दूसरों से मिलने-जुलने में संकोच अनुभव करते हैं। संसार उन्हें कैद की तरह लगता है। उनकी कोमल भावनाएँ कुण्ठित हो जाती हैं। यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि बच्चों को ऐसे ही बालकों में मिलने जुलने दिया जाए जो सभ्य घरों में जन्मे और श्रेष्ठ वातावरण में पले हों तथा सुसंस्कृत हों। कुसंस्कारी, बुरे, आवारा बालकों से बच्चों को बचाएँ रखना ही उचित है।

कई माँ-बाप बच्चों को यह सोचकर कि उनका बच्चा अधिक पढ़ेगा, अधिक परिश्रम करेगा और उन्नत बनेगा बार-बार टोकते हैं। बार-बार आदेशपूर्ण दबाव डालते रहते हैं। दूसरे लड़कों की तुलना करते हुए समझते है "अमुक तो इतना होशियार है उसकी बराबरी यह करेगा।" इस तरह कई माँ-बाप अपने बच्चों को कहते सुनते देखे जाते हैं। वे सोचते हैं इससे बच्चा अधिक मेहनत करेगा, किन्तु परिणाम इसके विपरीत ही निकलता है इससे बच्चों का आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता है। उन्हें अपनी शक्ति सामर्थ्य और सफलता में सन्देह होने लगता है। कई बच्चों में तो यह सन्देह इतना प्रबल हो जाता है, कि वे असफलता को निश्चित मानकर प्रयत्न ही नहीं करते। जैसे-तैसे अधूरे मन से प्रयत्न भी करते हैं तो सफल नही होते। बच्चों को हीन, कमजोर बताना उनकी बार-बार आलोचना करना उन्हें वैसा ही बनाना है जैसा अभिभावकगण स्वयं नहीं चाहते। बच्चों को स्पर्धा की, प्रोत्साहन और प्रेरणा भरी बातें कहना, उनके आत्मविश्वास के उत्साह को बढ़ाना ही उनके जीवन की सफलता, प्रौढ़ता विकास का रहस्य है। इतना ही नहीं गल्तियों, भूलों से होने वाली हीन प्रतिक्रिया को ही बच्चों के मानसपटल से दूर कर देना चाहिए। इससे महत्त्वपूर्ण कार्यों में निर्भीकता निस्संकोच हाथ डालने की क्षमता और जीवन पथ पर आगे बढ़ते रहने की मानसिक दृढ़ता प्राप्त होती है। बच्चों को जन्म देना, उनका पालन पोषण करना, उनकी साज-सम्हाल रखना माँ का उत्तरदायित्व है। किन्तु बच्चों की

शिक्षा-दीक्षा, उनका मानसिक विकास, स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण, उन्हें मनुष्य बनाने का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व पिता पर ही है। स्कूल कालेजों में भी पुस्तकीय ज्ञान; अक्षर ज्ञान ही हो पाता है किन्तु जीवन के आन्तरिक एवं बाह्य समग्र ढाँचे का निर्माण पिता द्वारा ही पूर्ण होता है यह एक निश्चित तथ्य है। इसके लिए बच्चों और पिता में नित्यप्रति का सम्पर्क रहना पिता द्वारा बच्चों के जीवन में गहरी दिलचस्पी का होना आवश्यक है। अक्सर आजकल के संघर्षमय, भाग-दौड़ के जीवन में इसकी भी कमी होती जा रही है। बच्चों से पिता का सम्पर्क बहुत कम हो पाता है या इसका सर्वथा अभाव ही रहता है। वकील, व्यापारी, डाक्टर, शिक्षक, राजनीतिज्ञ नेता सभी अपने कार्यक्रमों में इतने व्यस्त रहते हैं कि वे इसके लिए अपना कुछ समय भी नहीं दे पाते। अन्य सामान्य अशिक्षित लोगों को इसका पूरा ज्ञान ही नहीं होता। कई लोग बच्चों में घुलना-मिलना अच्छा नहीं समझते। कुछ भी हो किन्तु यह एक भारी भूल है।

पिता के साथ खेलने-कूदने की बच्चों में एक स्वाभाविक भूख होती है जिसके तृप्त न होने पर बच्चों का मानसिक विकास नहीं होता और वे परित्यक्त की तरह निराशा, उदासीनता, अवसाद से ग्रस्त हो जाते हैं। मानसिक दृष्टि से ऐसे बच्चे जिन्हें पिता का सम्पर्क प्राप्त नहीं हुआ, अविकसित, फूहड़ अयोग्य निकलते हैं।

बड़े आदमी, जो बच्चों के लिए कुछ भी समय नहीं लगाते, उनके बच्चे अधिक बिगड़ते देखे जाते हैं। अत: एक पिता होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन कुछ न कुछ समय बच्चों के लिए अवश्य निकालना चाहिए। समाज में भले ही कोई कुछ भी हों, बड़ी सम्पत्ति के मालिक, बड़े राजनीतिज्ञ, नेता, वैज्ञानिक, व्यापारी, वकील से लेकर सामान्य श्रेणी के व्यक्ति भी अपने बच्चों के लिए पिता ही हैं और पिता के कर्त्तव्य उत्तरदायित्व को निबाहना भी उनके लिए उसी तरह अनिवार्य और आवश्यक है जिस तरह उनका पिता होने का अधिकार है।



बालकों का विकास इस तरह होगा

बच्चों के विकास की समस्या यदि देखा जाए तो उन प्रमुख समस्याओं में से है जिनसे राष्ट्र का निर्माण होता है। यह उत्तरदायित्व प्रत्येक माता-पिता का है कि उनके बालक सभ्य सुसंस्कृत तथा प्रतिभावान् हों। इस जिम्मेदारी का उदारता पूर्वक धैर्य और विवेक के साथ पालन न किया जाए तो बालकों का दुर्गुणी होना स्वाभाविक है। चरित्र का संगठन बालक की अबोधावस्था से ही प्रारम्भ होना चाहिए।

प्राय: एक वर्ष की अवस्था से ही बालक अपने मनोवेग प्रदर्शित करने लगते हैं। इसी अवस्था में वे अपने समीपस्थ लोगों के हावभाव बड़ी जिज्ञासा पूर्वक देखते हैं। डाँटने, धमकाने आदि की प्रतिक्रिया भी उनमें उठने लगती है अनुकरण की प्रवृत्ति भी प्राय: इसी अवस्था से प्रारम्भ हो जाती है। उनकी निजी उमंग और दूसरों के क्रिया-कलापों का अनुकरण इन दो बातों का निरीक्षण इन दिनों भली भाँति न किया जाए और उन्हें अधम तरीके से रखा जाए तो उनके चरित्र में ओछापन आ सकता है। गौर कीजिए आपका बालक इस अवस्था में कुछ सीखने लगता है कृपया कोई गन्दी बातें प्रदर्शित न किया करें।

बालक की रुचि इस बात में नहीं होती कि उसके प्रति आपकी भावनाएँ क्या हैं। संतान के प्रति दुर्भावनाएँ प्राय: लोगों में होती भी नहीं किन्तु इस समय बालक अपने व्यवहार की प्रतीक्षा करता हे और आचरण से सीखने का प्रयास करता है। एक प्रोफेसर साहब जब पुस्तकें पढ़ते थे तो अपने बच्चे का मन बहलाने के लिए कभी-कभी तस्वीरें दिखाने का प्रयत्न करते थे। बच्चा इसमें तो अपनी रुचि प्रदर्शित नहीं करता था किन्तु वह खड़ा होकर किताब के पन्ने पलटने लगता था। चित्र दिखाने की भावना का इस उम्र में समझना कुछ कठिन है किन्तु प्रोफेसर साहब पुस्तक पढ़ते समय जो बार-बार पेज पलटते थे वह क्रिया बालक के मन को अधिक

प्रभावित कर सकी। तात्पर्य यह है कि इस उम्र में बालक आपके व्यवहार और आचरण का अनुकरण करते हैं भावनाओं का नहीं, यह एक बात हुई। मुख्यतया बालकों के सामने गन्दे हाव भावों का प्रदर्शन बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

एक वर्ष की उम्र हो जाने से बालक अपनी उमंगें, अपने संस्कार भी प्रदर्शित करने लगता है। सूक्ष्मता से निरीक्षण कीजिए कहीं उसमें खीझ के, या गुम सुम रहने के लक्षण तो नहीं हैं, यदि ऐसा हो तो बच्चे को डराइये नहीं, ऐसी क्रियाएँ कीजिए जिससे उसकी प्रसन्नता बढ़े और वह क्रियाशील रहने लगे। पर यदि बालक में प्रसन्न रहने खेलने कूदने तथा किसी वस्तु को बड़े गौर से देखने की आदत हो तो उसके इन गुणों पर अपनी प्रसन्नता भी प्रकट कीजिए। हाथ ऊँचा उठाकर बच्चे को आशीर्वाद दीजिए। बढ़ावा दीजिए ताकि उसकी स्वाभाविक उमंग को बल मिल सके। दूसरी बात हुई बालक की प्रतिभा का स्वाभाविक विकास।

उसकी स्वाभाविक उमंगों और घर के सदस्यों के हाव भाव और क्रिया में सुन्दर सामञ्जस्य होने दीजिए ताकि बालक का विकास न रुके। छोटा पौधा लगाते हैं तो दो काम करते हैं उसकी बढ़ने की उमंग न रोकना अपनी ओर से थोड़ा खाद पानी देकर उसे बढ़ने देना। यह दोनों सिद्धान्त ठीक इसी तरह बालकों पर भी लागू होते हैं। उनके विकास की ये दो शर्तें प्रमुख हैं।

बालक की यह स्थिति परिपक्व होने लगती है। उसकी मानसिक शक्ति का विकास होने लगता है अतः प्रारम्भिक काल में बच्चे को मारने, पीटने, डाटने, डपटने, धमकाने, डराने और उन्हें कठोर नियन्त्रण से बचाने का प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा उसका अन्तर्मन जटिल ग्रन्थियों से ग्रसित हो जाएगा। पौधे को झाड़ झंखाड़ से दबाकर रखें तो बौना होकर रह जाता है। बच्चे का मस्तिष्क भी बौना होकर रह जाएगा अगर आपने उसके मन में भय उत्पन्न कर दिया। यह अवस्था बच्चे के लिए स्नेह, प्यार और दुलार की होती है। आप उसे दुराव दुत्कार देकर निराश न होने दीजिए अन्यथा उसके मस्तिष्क का उपजाऊपन बैठ जाएगा।

तीन वर्ष के बाद बालक अभिभावकों की भावनाएँ समझने लगता है। पूर्व में जो उसे अनुभव तथा संवेदनाएँ प्राप्त हुई थीं अब वे क्रियाशील होने लगती हैं और बच्चा उनमें अपनी रुचि दिखाने लगता है। प्रत्येक परिस्थिति को वह समझने भी लगता है। जब तक केवल अनुकरण की बात थी तब तक वह स्थायी नहीं थीं किन्तु समझकर करने से कर्म में स्थायित्व आने लगता है अर्थात् उसका स्वभाव पुष्ट होने लगता है। इसलिए अब यह देखना चाहिए कि वह जो कुछ कर रहा है उसमें विचारों की दिशा क्या है। बालक की सामर्थ्य अल्प होती है इसलिए अपने विचारों को वह कार्य में तो पूर्ण रूप से परिणित नहीं कर सकता पर उसकी चेष्टाओं से उसकी—अन्तर्भावनाएँ व्यक्त हो जाती हैं। इसलिए अब उसके सामने रुचिकर शिक्षात्मक और सुबोध प्रसंग उपस्थित करना चाहिए। बच्चा चित्र देखना चाहता है तो उसे सुन्दर भाव भंगिमा वाले चित्र दिखाइये। शिक्षात्मक पशु पक्षियों की कहानियाँ, गाने आदि में उसे पर्याप्त रस मिलता है। पर सावधान, अब उसकी बुद्धि भी क्रियाशील हो उठी है इसलिए ध्यान रखिये कहीं आप उसे अश्लील चित्र भद्दी कहानियाँ और बुरे गाने तो नहीं सुनाते इनका दूषित प्रभाव बच्चे के कोमल अन्त:करण पर पड़ता है इसलिए आप जो भी करते हैं उसमें रुचि, सद्भावना और कोमलता का ध्यान जरूर बनाए रखिये।

इस उम्र में प्राय: बालक हठीले हो जाते हैं, अभिभावक उन पर बेतरह झुझलाते और मारपीट करने लगते हैं। इसमें दोष उन बच्चों का नहीं होता वरन् उनके माता पिता ही उन्हें ऐसा बना देते हैं। अनावश्यक प्यार जताकर उन्हें ऐसा कर दिया जाता है या बार-बार डाट डपट कर उन्हें जिद्दी प्रकृति का बना दिया जाता है।

इस उम्र में बच्चों का उत्साह बढ़ाना चाहिए और छोटी मोटी आदतों से स्वावलम्बन सिखाना प्रारम्भ कर देना चाहिए। योग्य शिक्षा के अभाव में-बालक का व्यक्तित्व अविकसित रह जाता है उसमें स्वयं के मस्तिष्क की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाने का भय बना रहता है। मैडम मान्टसरी का कथन तो यह है कि इस उम्र में आने तक बच्चों की योग्यता इतनी बढ़ा देनी चाहिए कि वह स्कूली

शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाए। सचमुच यह कोई असंभव बात भी नहीं है। बालकों का मस्तिष्क स्वच्छ तथा निर्मल होता है। विद्या का प्रभाव उस पर तात्कालिक होता है। यदि रुचि उत्पन्न कर दी जाए तो यही बालक आगे चलकर बड़े मेधावी और प्रतिभावान बन सकते हैं। ज्यों ज्यों बालक की उम्र बढ़ती चले त्यों-त्यों उसके ज्ञान को बढ़ाते चलिये। परिस्थितियों की जानकारी तथा प्रत्येक विषय को सरल बनाकर समझाने की पद्धति का विकास करते जाइये।

बच्चे को अक्षर ज्ञान हो जाए और वह पाठशाला जाने लगे तो आपकी जिम्मेदारियां और बढ़ जाती हैं। उसे अब ठीक तरह से कपड़े पहनने की आदत डालनी चाहिए। हाथ पाँव, मुँह, नाक, दाँत आदि से लेकर कपड़ों की तथा बिस्तर की सफाई की ओर भी उसका ध्यान आकृष्ट करते रहिए। यहां भी उसे डराकर या धमकाकर मानसिक आघात पहुँचाने की आवश्यकता नहीं है।

जिस तरह स्वभाव की शिक्षा चलती है उसी तरह ज्ञान संवर्द्धन तथा भावनात्मक परिष्कार के लिए उसे छोटी-छोटी साहसिक, शिक्षाप्रद और चरित्र निर्माण की कथा कहानियाँ भी पढ़ाना चाहिए। बच्चों के मासिक पत्र निकलते हैं, उनसे भी उनके ज्ञान का विकास होता है। पौराणिक कथाओं में भी बालकों के निर्माण की बड़ी सामग्री है। चित्रकारी, मिट्टी के खिलौने बनाने की कला, संगीत, सुन्दर स्थानों पर भ्रमण, फूलों का परिचय ज्ञान और उनकी ओर बालक का मानसिक झुकाव पैदा करना, पक्षियों के नाम इत्यादि बताकर उसका मन भी बहलाना चाहिए और इससे उनके ज्ञान प्राप्त करने की तृष्णा भी तृप्त होती है।

चौदह वर्ष की अवस्था बालक की प्रौढ़ावस्था मानी गई है इस उम्र तक बालक में ज्ञान की पिपासा, सदाचार, संयम, सेवा आदि के संस्कार परिपक्व कर देने चाहिए ताकि वह अपने शेष जीवन में इनको पूर्ण रूप से विकसित करता हुआ एक योग्य नागरिक बन सके। मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालकर बालक को संस्कारवान बनाने का उत्तरदायित्व प्रत्येक माता पिता का है। इसे पूर्ण लगन और तत्परता के साथ निभाया जाना चाहिए।

बालक के निर्माण में माता का हाथ

बालकों के निर्माण में सबसे बड़ा हाथ माता का है क्योंकि उसी के रक्त मांस से बालक का शरीर बनता है। नौ महीने पेट में रखकर तथा अपने शरीर का रस—दूध पिलाकर उसका पोषण करती है। कई वर्ष का होने तक वह अधिकांश समय माता के सान्निध्य में रहता है और उसी के साथ सोता है। इसलिए स्वभावतः उसके ऊपर सबसे बड़ा प्रभाव माता का होता है। माता के जैसे विचार और संस्कार होते हैं, बालक प्रायः उसी ढाँचे में ढलते हैं।

यों पिता के रक्त का भी थोड़ा महत्व है और बड़े होने पर शिक्षक का तथा बाह्य परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है, पर यह सब मिलकर भी उतना नहीं हो पाता, जितना कि माता का प्रभाव पड़ता है। माता यदि विदुषी है, सुसंस्कार युक्त और उच्च अन्तः भूमि की है, तो उसकी छाया सन्तान पर भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होगी। संसार में जितने महापुरुष हुए हैं उनके निर्माण में माता का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

सुभद्रा ने बालक अभिमन्यु का निर्माण तब किया जब वह गर्भ अवस्था में था। वह चाहती थी कि उसका पुत्र भी अपने पिता अर्जुन के समान ही पराक्रमी एवं धनुर्धर हो। शिक्षा का सबसे उत्तम काल वह है जब बालक गर्भ में रहता है। उसे मालूम था कि आधी पढ़ाई बालक माता के गर्भ में पढ़ लेता है। फिर शेष जन्म भर में आधी शिक्षा पूरी कर पाता है इसलिए सुभद्रा ने अर्जुन से कहा गर्भस्थ बालक पर वीरता के तथा शस्त्र प्रवीणता के संस्कार देने के लिए आप मुझे नित्य उन विषयों की शिक्षा दिया कीजिए। माता के शरीर से ही गर्भस्थ बालक का शरीर और माता के मन से ही उसका मन बनता है सो आप इन दिनों मुझे जो भी उपदेश करेंगे उन सबको बालक ग्रहण कर लेगा।

अर्जुन को सुभद्रा की बात सर्वथा उचित लगी वह नित्य वीरता एवं शस्त्र विद्या सम्बन्धी शिक्षा उसे देने लगा। बालक अभिमन्यु ने उस सारे ज्ञान को अपने अन्तःकरण में धारण किया। चक्रव्यूह

भेदन की विद्या भी उसने उसी अवस्था में अपने पिता से सीखी। चक्रव्यूह से युद्ध में सात चक्र भेदने पड़ते हैं। अभिमन्यु ने छः चक्रों का भेदन सीख पाया था इसलिए महाभारत में उन्होंने छै चक्र तो आसानी से भेद दिए पर जब सातवें के भेदने का समय आया तो उसकी जानकारी न होने से लड़खड़ा गया और वहीं मारा गया। सातवें चक्र भेदन की शिक्षा गर्भ में ही उन्हें कम मिली थी, क्योंकि अर्जुन जब चक्रव्यूह भेदन का उपदेश कर रहे थे, तब छै चक्रों तक का विवरण सुनने के बाद सुभद्रा को नींद आ गई। अर्जुन ने भी कहना बंद कर दिया। इसके बाद अर्जुन अन्य आवश्यक कार्यों में लग जाने के कारण सातवें चक्र का भेदन बताना भूल गए। सुभद्रा भी फिर न पूछ सकी। इस प्रकार वह प्रकरण अधूरा ही रह गया और उस जानकारी के अभाव में अभिमन्यु मारा गया।

राजा दुष्यन्त जब वन में घूम रहे थे तब उनने देखा कि एक बालक सिंहनी के दो बच्चे अपनी दोनों बगलों में दबाए हुए है। जब सिंहनी अपने बच्चों को छुड़ाने के लिए बालक पर गुर्राती है तो वह एक छड़ी लेकर उस सिंहनी को कुतिया की तरह पीट देता है और वह विवश होकर पीछे हट जाती है। इस प्रकार सिंहनी का बार-बार अपने बच्चों को छुड़ाने के लिए आगे बढ़ना और बालक को बार-बार उसे पीछे हटा देना एक मनोरंजक दृश्य था। दुष्यन्त को उस बालक का मनोबल देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। पूछने पर मालूम हुआ कि यह शकुन्तला पुत्र भरत है। कण्व ऋषि के आश्रम में पालन होने से शकुन्तला ने अपने में आत्मबल एकत्रित किया और पति-परित्यक्ता होने पर उसने पुनः कण्व आश्रम में ही निवास किया। उस वातावरण में रहने का प्रभाव माता पर पड़ा था। पुत्र ने माता और आश्रम का दुहरा लाभ उठाया। ऐसी दशा में यदि वह बालक सिंह शावकों में खेलने वाला बना तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

चित्तौड़ के राजकुमार अरिसिंह एक बार शिकार खेलने गए तो एक जंगली सूअर के पीछे घोड़ा दौड़ाया। दौड़ते दौड़ते शाम हो गई। घायल सुअर थककर एक झाड़ी में छुप गया। राजकुमार भी

बहुत थके हुए थे, वे झाड़ी के पास पहुँचे और चाहते थे कि किसी प्रकार सुअर को बाहर निकाला जाए पर घायल सुअर द्वारा आक्रमण करने का पूरा-पूरा खतरा था इसलिए साथियों में से किसी की हिम्मत आगे बढ़ने को न पड़ रही थी।

इस दृश्य को एक किसान लड़की अपने खेत की रखवाली करती हुई देख रही थी। वह आई उसने उन सब शिकारियों को एक ओर हटा दिया और एक लकड़ी हाथ में लेकर झाड़ी में घुस गई तथा सुअर को पीटती हुई बाहर निकाल लाई। राजकुमार इस कृषक लड़की के पराक्रम से बहुत प्रभावित हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए घर लौट आए।

कुछ दिन बाद राजकुमार फिर उधर से निकले। देखा तो वह लड़की सिर पर दो घड़े पानी रखे और दोनों हाथों में दो बड़े बड़े बैलों के रस्से पकड़े जा रही है। राजकुमार को उससे कुछ छेड़खानी करने की सूझी। घोड़े को उससे सटाकर निकालने लगे ताकि उसके सिर पर रखी मटकी गिर जाए। कृषक लड़की राजकुमार की गुस्ताखी समझ गई। उसने बैल वाली एक रस्सी इस तरह फंदा बनाकर फेंकी कि घोड़े का पैर ही उसमें फंस गया और राजकुमार घोड़े समेत नीचे गिर पड़े। लड़की की वीरता पर मुग्ध होकर राजकुमार ने उसी से विवाह किया और उस लड़की के गर्भ से वीर हम्मीर का जन्म हुआ, जिनकी गाथा इतिहास में प्रसिद्ध है।

कुन्ती ने अपने पुत्रों को तप बल से उत्पन्न किया था फलस्वरूप उनमें असाधारण दैवी शक्तियाँ मौजूद थीं। कर्ण को सूर्य की शक्ति से, अर्जुन को इन्द्र की शक्ति से, युधिष्ठिर को धर्म की शक्ति से और भीम को पवन देवता की शक्ति से उत्पन्न किया था। फलस्वरूप उनमें तप तेज की कमी नहीं थी। शक्ति भले ही किसी देवता की रही हो पर उसका आकर्षण एवं धारण कुन्ती द्वारा ही हो सका। यदि वह वैसी तपस्विनी न होतीं तो कदापि ऐसे बालक उत्पन्न न होते। वे देवता कुन्ती से पहले भी थे और अब भी हैं, पर वैसी धारणा शक्ति की नारियाँ न होने से उस प्रकार के बालक भी उत्पन्न नहीं हो पा रहे हैं।

देवी अञ्जना ने वायु देवता को अभिमंत्रित करके पवन पुत्र हनुमान को जन्म दिया था। उनका पराक्रम सभी को विदित है। कौशिल्या ने पिछले जन्म में तप कर अपने गर्भ से भगवान् के जन्म लेने का वरदान प्राप्त किया था। उनके उच्च गुणों के कारण ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम में वे गुण आए।

इस प्रकार के अगणित उदाहरण प्राचीन काल के हैं। आधुनिक काल में भी ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं जिनकी महानता का बहुत कुछ श्रेय उनकी माताओं को ही है।

सन्त विनोबा अपनी आत्मिक प्रगति का कारण अपनी माता को मानते हैं। माता की चर्चा करते हुए उनने एक बार बताया था कि—

मेरी माँ कहती थी, मैं अगर पुरुष होती, तो दिखाती कि वैराग्य कैसा होता है। उसके दिल में छटपटाहट थी। लेकिन उसकी दिक्कत यह थी कि वह स्त्री थी। वह यह महसूस करती थी। फिर भी मैंने देखा कि वह भक्त थी। उसकी मुझ पर बहुत श्रद्धा थी। हर चीज में वह 'विन्या' का शब्द 'प्रामाण्य' मानती थी। मुझे महसूस होता है कि आज भी वह मेरे साथ चल रही है। अगर मुझे मुक्ति मिलेगी, तो उसे भी मुक्ति मिलेगी। अगर मैं वापस दुनिया में आऊँगा तो वह भी मेरे साथ आएगी। मैं जहाँ भी जाऊँगा वह मेरे साथ आएगी।"

गान्धी जी की माता परम साध्वी और धर्मनिष्ठ महिला थीं। वे प्रतिदिन मन्दिर जातीं और बिना भजन पूजा के जल तक ग्रहण न करती थीं। कठिन से कठिन व्रत रखती थीं। चातुर्मास का व्रत तो उनने आजन्म निवाहा। लोकमान्य तिलक की माता बड़ी तपस्विनी थीं। व्रत उपवासों से उनने अपना शरीर सुखा डाला था। जिन दिनों बालक तिलक गर्भ में थे उन दिनों उनने बड़े कठिन अनुष्ठान किए थे। वे कहा करती थीं कि मैंने सूर्य देवता की साधना करके इस बालक को प्राप्त किया है? यह सूर्य के समान ही तेजस्वी होगा। माता की बात सच निकली, लोक मान्य तिलक की प्रतिभा और महानता सचमुच सूर्य जैसी ही प्रकाशवान थी।



बच्चों को डराया न करें

बच्चों के साथ अपने दैनिक व्यवहार में हम बहुत सी भूलें कर बैठते हैं और उनका बच्चों के सम्पूर्ण जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बहुत से माँ बाप अपने लाभ के लिए या बच्चों को सुधारने के लिए उन्हें तरह-तरह के भय दिखाया करते हैं। अबोध बच्चों को अक्सर "हौवा" से डराया जाता है "मुन्ना जल्दी सोजा," दुबक जा नहीं "हौवा आ जाएगा" ऐसे भय प्रधान संकेत बच्चों को दिए जाते हैं। अबोध बालक समझने लगता है कि "हौवा" नाम की कोई भयानक वस्तु है जो उसे खा जाएगी या पकड़ ले जाएगी।

कुछ बड़ा हो जाने पर जब वह चलने फिरने लायक होता है तो कुत्ता, शेर, पकड़ ले जाने वाले साधु बाबा का डर दिखाया जाता है। प्रत्यक्ष भय दिखाने के साथ-साथ ही घर में कहे जाने वाले किस्से, कहानी जिनमें राक्षस, भूत, चुड़ैल आदि की प्रधानता रहती है, बच्चों में कुछ कम भय पैदा नहीं करते। बहुत से घर वाले तो अमुक स्थान, पीपल का पेड़, मरघट, कब्र आदि पर भूत-प्रेत का निवास बता कर बच्चों को वहाँ जाने, चौराहा लांघने से रोकते हैं।

किसी भी रूप में बच्चे को डराने की प्रवृत्ति बहुत ही हानिकारक सिद्ध होती है। इन बातों से बालक के कोमल मन पर भय की भावना इतनी दृढ़ता से जम जाती है कि वह जीवन भर नहीं छूट पाती। वह अँधेरे में, अकेले में डर महसूस करता है। अंधेरे में कोई कपड़ा या वस्तु हवा से हिलती डुलती देख कर उसकी घिग्गी बँध जाती है। जिन वस्तुओं का नाम लेकर डराया जाता है यथा कुत्ता, बिल्ली, बन्दर, भालू, साँप, छिपकली इनके सम्पर्क में आते ही बालक होश-हवाश खो बैठता है। भयावनी कहानियाँ उसकी विचार धारा और कल्पनाओं को उसी दिशा में मोड़ देती है जिससे बालक अकारण ही भयभीत होता रहता है कई भयप्रद कल्पनाओं और विचारों में उलझ कर।

एक दूसरे ढंग से भी माँ-बाप, बच्चों में भय की भावना पैदा करते हैं। बातचीत में, व्यवहार में, बच्चों के साथ सख्ती से पेश आना, उन्हें झिड़क देना भी बच्चों को दूसरे ढंग से भयभीत बना देता है। ऐसा बालक बात-बात में दूसरों में डरने लगता है। कुछ करने से पूर्व झिझकता है। धीरे-धीरे यह भय इतना बढ़ जाता है कि वह कुछ नहीं कर पाता।

कई बार किसी पराजय अथवा कटु अनुभव होने पर बालक को चिढ़ाना, धिक्कारना, उस पर व्यंग कसना भी उसके साहस को कमजोर करना है। कुछ करने से पहले ही असफलता की, हानि की भविष्यवाणी कर देना भी बच्चों में एक प्रकार का भय पैदा करना है जिससे बालक फिर इस तरह के कामों में हाथ डालने पर सहम जाता है और वह अपना बढ़ा पैर तक पीछे हटा लेता है। दिन भर दिए जाने वाले भय प्रधान संकेत "देख ऐसा मत करना, अमुक वस्तु को मत छूना, शीशा मत तोड़ देना" आदि आदेश जो भय दिखाते हुए दिए जाते हैं और भूल हो जाने पर जब बच्चे को डांट-फटकार सुननी पड़ती है तो बालक निर्भय होकर कुछ नहीं कर पाता। वस्तु के टूट जाने, नुकसान हो जाने के भय से बालक इतना दब जाता है कि हर बात में बहम करने लगता है—हिचकता है। किसी महत्त्वपूर्ण एवं जोखिम भरा काम में हाथ डालने की उसकी हिम्मत ही नहीं होती और जो व्यक्ति जीवन में कोई जोखिम नहीं उठा सकता, वह कुछ कर भी नहीं सकता।

किसी भी रूप में क्यों न हो बच्चों में भय के संस्कार पैदा कर देना उनके स्वाभाविक जीवन विकास क्रम में अवरोध पैदा कर देना है। निर्द्वन्द, निर्भय बालक जल्दी प्रगति करता है, बजाय एक भयभीत मनःस्थिति के बच्चे के। जो बालक कुत्ते, बिल्ली, छिपकली, हौवा, भूत, चुड़ैल के नाम से घिघियाते हैं, अँधेरे में, अकेले में रहने से परेशान हो जाते हैं, जो नाना भयप्रद कल्पनाओं में डूबते उतराते रहते हैं उनसे कैसे आशा की जा सकती है कि वे जीवन में कोई महत्वपूर्ण काम कर सकेंगे?

आवश्यकता इस बात की है कि बच्चों में भय की भावनाओं को पैदा ही नहीं होने देना चाहिए। कदाचित किसी रूप में भय पैदा हो ही जाए तो माता पिता का कर्त्तव्य है कि वे बालक की स्थिति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके तुरन्त उसके मन से भय को दूर करें।

यदि अँधेरे में या किसी स्थान विशेष पर बालक जाने से डरे तो उसे प्रेम के साथ अपना पूर्ण संरक्षण प्रदान करें। स्मरण रहे बालक अपने अभिभावकों की गोद में अपने आपको सर्व प्रकार से सुरक्षित समझता है। लेकिन माँ-बाप ही हौवा या जूजू, भूत, चुड़ैल आदि का डर बताते हैं तो उसका धैर्य और विश्वास नष्ट हो जाता है। समझदार माँ-बाप को चाहिए कि वे बच्चों को इस तरह के कोई काल्पनिक भय न दिखावें चाहे ऐसा उनके भले के लिए ही किया जाए लेकिन वह सर्वथा गलत है। जिस स्थान पर जाने से बालक डरता हो उसे अपने संरक्षण का पूर्ण विश्वास देकर उस स्थान पर ले जाना चाहिए और उसकी वास्तविकता का खोखलापन विनोद में ही समझा देना चाहिए। कुछ समय वहाँ खेलने-कूदने में बिताने पर उसके मन से भय की भावना दूर हो जाएगी।

कोई नुकसान हो जाए, वस्तु टूट-फूट जाए, बालक को कोई असफलता मिल जाए तो उसे आप कभी न टोकें न कोई दोष दें, न मीन-मेख ही निकालें। गिरे हुए बालक को कोसने के बजाए उसे उठने, असफल हो जाने पर सफलता के लिए प्रोत्साहित कीजिए, खतरों दुर्घटनाओं के लिए उसे डाँट-फटकार देने की अपेक्षा उसका हौसला बढ़ाइए। तभी वह जीवन में आने वाली बहुत-सी असफलता, दुर्घटना, कठिनाईयों को झेल सकेगा। बच्चों से जो नुकसान हो गया वह तो पूरा होने का नहीं। व्यर्थ ही उन्हें भयभीत करना, डाटना, फटकारना उनके मनोबल को क्षीण कर देना है। अतः बच्चों को उनकी भूलों पर, असफलता पर, असावधानी पर शर्मिन्दा न करें, उन्हें न कोसें।

बच्चों को भूल कर भी ऐसी कथा कहानियाँ प्रसंग न सुनायें जिनमें भूत, प्रेत, चुडैल, हौवा काल्पनिक लेकिन भयानक बातों की प्रधानता हो। इसके स्थान पर उन्हें इतिहास के वीरों की, साहसशौर्य की घटना, कथाओं को सुनाया जाए। पढ़ने के लिए अच्छा साहित्य हो जो उनके मनोबल को महान बनावे।

बच्चों को सहज रूप में खेलने-कूदने देना चाहिए। उनको बात-बात पर टोकना, डिक्टेटर का-सा हुकम चलाना, दण्ड देना अनुपयुक्त है। इससे बालक का मनोबल क्षीण होता है और वह सहमा-सहमा रहने लगता है। झिझकता है। दब्बूपन की भावना उसमें घर कर लेती है। बच्चे को उसकी सहज स्थिति में रहकर विकसित होने देना चाहिए।

एक बात और सबसे महत्त्वपूर्ण है कि माता-पिता, अभिभावकों को भूलकर भी अपने बच्चों के समक्ष कोई भय प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। वस्तुतः बालक अपने अभिभावकों को सर्व समर्थ समझता है और इसी विश्वास से वह उनके संरक्षण में रहकर निडर रहता है। लेकिन वे जब भययुक्त आचरण करते हैं तो बालक का विश्वास डगमगा जाता है, साथ ही वह भी भयभीत होने लगता है। जो माँ-बाप स्वयं डरपोक होंगे तो उनके बच्चे साहसी, निडर बन जाँए ऐसा सम्भव नहीं। माँ बाप को चाहिए कि अपने बच्चों में निर्भयता, साहस की भावना जगाने के लिए स्वयं इस तरह का आचरण व्यवहार करें।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाल्यकाल में बच्चों के कोमल मन में जमी हुई भय की भावना उन्हें जीवन भर के लिए अकर्मण्य, कायर एवं भीरु बना देती है। उन्हें एक प्रकार की मानसिक गुलामी का जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि संसार में निर्भयी ही महत्त्वपूर्ण स्थान पा सकते हैं। माँ-बाप का कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों का जीवन भय के कारण नष्ट न होंने दें। सर्व प्रथम उनमें भय की भावना पैदा ही न होने दें, फिर यदि हो भी जाए तो उसे दूर करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें।

बच्चों में अच्छी आदतें पैदा कीजिए

अभिभावकों, खासकर माता-पिता पर बच्चों में अच्छी आदतें डालने, उन्हें सुयोग्य बनाने का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है और सभी माँ-बाप यह चाहते भी हैं कि उनके बच्चे योग्य बनें। किन्तु बच्चों का निर्माण एक पेचीदा प्रश्न है। इसके लिए अभिभावकों में काफी विचारशीलता, विवेक, संजीदगी एवं मनोवैज्ञानिक जानकारी का होना आवश्यक है।

बहुत से माँ-बाप तो बच्चों को पैदा करने, खिलाने पिलाने, स्कूल आदि में पढ़ने की व्यवस्था तक ही अपने उत्तरदायित्व की इतिश्री समझते हैं। किन्तु इससे बच्चों के निर्माण की सम्पूर्ण समस्या का हल नहीं होता, हालाँकि बच्चों के विकास में इनका भी अपना स्थान है। बच्चों में अच्छी आदतें डालना, उनमें सद्‌गुणों की वृद्धि करके सुयोग्य बनाना एक महत्त्वपूर्ण बात है। यह असुरता से देवत्व उत्पन्न करने, पशुत्व को मनुष्यता में बदलने की प्रक्रिया है, एक सूक्ष्म विज्ञान है। बच्चों को प्यार करना, खिलाना पिलाना, उनका संरक्षण करना तो पशुओं में भी पाया जाता है।

बच्चों में बढ़ती हुई उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, स्वेच्छाचार एवं अन्य बुराइयों की जिम्मेदारी बहुत कुछ माँ-बाप व अभिभावकों के ऊपर ही होती है। उनकी सामान्य-सी गलतियों, व्यवहार की छोटी-सी भूलों के कारण बच्चों में बड़ी-बड़ी बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। अनेकों बुरी आदतें बच्चों मे पड़ जाती हैं। स्वयं माँ-बाप जिसे सुधार समझते हैं वही बात बच्चों के बिगड़ने का कारण बन जाती हैं।

बच्चों में अनुशासन और आज्ञा पालन की आदत पैदा करने के लिए अधिकांश माँ बाप फौजी नियमों का अनुसरण करते देखे जाते हैं। किसी भी काम के लिए अधिकार पूर्वक बच्चों को आदेश देते हैं। रौब दिखाकर, दबाव के द्वारा उनसे कोई काम कराना चाहते हैं। कदाचित बच्चों ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया अथवा

अनसुना कर दिया तो उनकी मारपीट करना, चीखना-चिल्लाना, गाली देना शुरू हो जाता है। किन्तु वे माँ-बाप यह नहीं जानते कि इससे बच्चों में विरोधी भावना, द्वेष बुद्धि घर कर जाती है और बच्चे जानबूझ कर उपेक्षा टालमटोल करने वाले, किसी बात पर ध्यान न देने वाले अनुशासनहीन और उच्छृंखल बन जाते हैं।

किसी तरह की आज्ञा देते समय अथवा अनुशासन पालन की आदत के लिए यह जानना और समझना भी आवश्यक है कि बच्चा उस समय क्या कर रहा है। उदाहरणार्थ बच्चा अपने किसी दिलचस्प खेल में लग रहा है, एकाग्रता के साथ पढ़ रहा है अथवा अपने बाल मित्रों के साथ खेलकूद में मस्त है तो ऐसे समय उसे किसी तरह की आज्ञा नहीं देनी चाहिए। ऐसी स्थिति में प्रायः बच्चे आज्ञा नहीं माना करते। यदि उनके साथ जबरदस्ती और रोब दबाव का व्यवहार किया गया तो उनमें रूठने, चिल्लाने, मचलने की आदतें पड़ जाएँगी और फिर हर बात में बच्चे विपरीतता अर्थात् आज्ञा उल्लङ्घन, अनुशासन-हीनता का परिचय देंगे।

जब बच्चे माँ के पास शान्त तथा स्वस्थ मानसिक स्थिति में हों तो उन्हें आवश्यकतानुसार आदेश दिया जाए और जहाँ तक बने उस आदेश को खेल मनोरंजन के रूप में अथवा कोई नवीनता में परिणित कर देना अधिक श्रेष्ठ रहेगा। आदेश भी रचनात्मक होने चाहिए "अमुक करेगा", "वह लावेगा", "वहाँ जावेगा" आदि "यह काम मत कर"। "वहाँ मत जाना", "उसे मत छूना" आदि के रूप में नकारात्मक आदेश बच्चों में वैसा ही करने का कौतूहल पैदा कर देते हैं और वे उन्हें ही करने लगते हैं जिनके लिए मना किया जाता है।

अनुशासन, आज्ञापालन से सम्बन्धित बातों पर स्वयं बच्चों की राय लेना भी उत्तम होता है। इससे वे बड़े प्रसन्न होते हैं और तत्परता के साथ उनके लिए प्रयत्न भी करते हैं क्योंकि उन बातों में उनका भी एक अधिकारमय स्थान होता है। बच्चों को पुकार कर, दूर से चिल्लाकर कोई आदेश न दिए जाएँ बल्कि नजदीक बुलाकर और अच्छा तो यह हो कि उनके पास पहुँचकर ही उनसे कोई बात

कही जाए। इससे बच्चे उसके मूल्य, महत्त्व को समझेंगे और उसी तत्परता, तन्मयता से उस पर अमल करेंगे।

अनावश्यक रूप से बच्चों को बार-बार टोकना अच्छा नहीं। वैसे बच्चे स्वत: ही किसी काम पर अधिक नहीं टिकते। थोड़े से समय में ही वे उससे विरत हो जाते हैं। टोकने से तो उनकी थोड़ी बहुत एकाग्रता, तन्मयता में विक्षेप पड़ता है। इतना ही नहीं आगे चलकर ऐसे बच्चे किसी भी काम पर एकाग्र एवं तन्मय नहीं हो पाते। अपने सामने आए हुए काम पर भी नहीं जम पाते जिससे जीवन में अनेकों असफलताओं का सामना करना पड़ता है।

बच्चे को किसी खेल आदि से विरत करने के लिए सीधी निषेधात्मक आज्ञा नहीं देनी चाहिए। वरन् उनके साथ लगकर सुझाव एवं प्रस्ताव रूप में अपनी बात रखकर उन्हीं से ऐसा निर्णय कराना उत्तम होता है।

बच्चों को दिए जाने वाले आदेश सरल एवं स्पष्ट भाषा में हों, साथ ही उनके साथ अपना प्रभावशाली वजन भी हो। किसी काम को करने की आज्ञा देने से पूर्व बच्चे से यह पूछना कि "तुम अमुक काम करोगे" तो उससे "ना" में ही उत्तर मिलेगा और किसी भी बात के लिए एक बार ना कह देने पर बच्चों से वह काम कराना और भी कठिन हो जाता है। बच्चों को आकर्षक एवं प्रभावशाली ढङ्ग से आज्ञा देनी चाहिए "हमारा मुन्ना अमुक काम करेगा, फिर वहाँ जाएगा इसके बाद यह लाएगा" आदि। इस रूप में आदेश आकर्षक, रचनात्मक, प्रभावशाली, वजनदार होते हैं और वह काम बच्चों के लिए कौतूहल, मनोरंजन के रूप में भी बदल जाता है।

बहुत से माँ-बाप बच्चों के लिए नियमित व्यवस्थित जीवन बिताने के लिए बड़े ही सख्त और रूखे नियम बना लेते हैं किन्तु इससे अनुकूल परिणाम प्राप्त नहीं होते। बहुत से बच्चे उन नियमों के अनुसार चलेंगे नहीं या जो थोड़ा बहुत नियम पालन करेंगे उनकी मौलिकता, आत्मविश्वास की शक्ति कुन्द हो जाएगी। अत: बच्चों पर नियम लादे नहीं जाने चाहिए वरन् स्वयं उन्हीं की राय को महत्त्व, प्रोत्साहन देकर बच्चों के खाने पीने, सोने, पढ़ने, खेलने आदि का

समय निश्चित कर देना चाहिए। यदि किन्हीं नियमों के कारण बच्चों को किसी तरह की कठिनाई हो तो उन्हें सरल भी बना देना चाहिए। बच्चों को नियमानुवर्ती बनाने से पूर्व स्वयं माँ बाप को भी नियमित और बँधा हुआ जीवन बिताना आवश्यक है। जो मां-बाप स्वयं अनियमित जीवन बिताकर बच्चों को नियमानुवर्ती बनाना चाहते हैं वे भूल करते हैं। यदि बच्चे अभ्यासवश नियम पालन में कोई गड़बड़ी अथवा भूल करें तो उन्हें एक दम धमकाना नहीं चाहिए। बहुत बार एक-सी भूल करने पर कह देना चाहिए।

केवल नियमादि बनाकर बच्चों पर कर्त्तव्य एवं जिम्मेदारी डालने से काम नहीं चलता। समय-समय पर बच्चों के साथ विचार विमर्श करना, उनकी बात पूछना, उनके कार्यक्रम जीवनक्रम आदि के बारे में दिलचस्पी प्रकट करना अपनी सूझ-बूझ से बच्चों को नवीन तथ्यों का ज्ञान देना भी आवश्यक है।

कई माँ-बाप बच्चों को नङ्गा ही घूमने फिरने देते हैं किन्तु यह आदत बुरी है। छोटे-छोटे बच्चे जब नंगे रहते हैं तो उनमें समय से पूर्व ही यौन-भावना जागृत हो उठती है। माता-पिता को अपने अबोध, छोटे से बच्चों के समक्ष भी परस्पर प्रेम प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। इससे बच्चों के अन्तर मन पर सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है। समझदार, बोध रखने वाले बालक तो यह सब देख कर आश्चर्य करते हैं। उनके लिए एक कौतूहल की बात हो जाती है और फिर बच्चे भी परस्पर वैसा ही करने का प्रयास करते हैं। बच्चों में फलती हुई अपराध प्रवृत्ति, यौनभावना—जघन्य अपराधों के मूल में माँ-बापों की यह भूल भी एक मुख्य कारण है। असमय में ही उत्पन्न यौन भावना को बच्चे गलत तरीकों से व्यक्त करते हैं। बच्चों के समझदार हो जाने पर तो उन्हें हमेशा अलग कमरे में अलग-अलग बिस्तरों पर सुलाना चाहिए। अभिभावकों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि अपनी किसी भी चारित्रिक कमजोरी को भूल कर भी बच्चों के समक्ष प्रकट नहीं होने दिया जाए।

बच्चों में सद्‌गुणों, उत्कृष्ट आदतों की प्रतिष्ठापना के लिए स्वयं अभिभावकों को अपने आप में ही उनकी प्रतिष्ठापना करना

आवश्यक है। अपना सुधार किए बिना बच्चों को सुधारने का प्रयत्न विडम्बना मात्र है। स्वयं बीड़ी पीते हुए बच्चों को धूम्रपान न करने का उपदेश देना क्या भूल नहीं है? बच्चों से जिन गुणों की आशा की जाए उन्हीं से सम्बन्धित वातावरण आस-पास होना चाहिए। सच बोलना सिखाने के लिए घर का वातावरण भी सचाई से भरा हुआ होना चाहिए। दवा पिलाने, अस्पताल में फोड़ा चिरवाने अथवा इंजैक्शन लगाने के लिए बच्चों को बहाना करके या झूँठ बोलकर ले जाना बच्चों को धोखा देना उनमें वैसी ही आदतें पैदा करना है। बच्चे फिर उन्हीं बातों का अवलम्बन लेते हैं। उन्हें फिर माँ-बापों की आदर्श भरी बातों में भी सन्देह होने लगता है और उन्हें झूँठ मानने लगते हैं।

चोरी की आदत से बचने के लिए बच्चों को जब से अपने-पराये का ज्ञान होने लगे तभी से यह सिखला देना चाहिए कि "बिना मांगे किसी की वस्तु लेना चोरी है।" दूसरों की वस्तु बिना माँगे लेना एक बुराई और अपराध है। चोरी की आदत पड़ जाना बच्चों के लिए घातक है। चोरी से दरअसल बच्चे की मनचाही इच्छाएँ शीघ्र ही पूरी हो जाती हैं। माँ-बाप की सतर्कता से बच्चों में चोरी की आदत घर नहीं करती।

छोटी उम्र से ही बच्चों में कोमल भावनाओं का विकास करना चाहिए, बच्चों में सह भावना, सबके हित का ध्यान रखने की वृत्ति पैदा करना माँ-बाप के ऊपर ही है। जो माँ बाप दूसरों के बच्चों के बीच व्यवहार करते समय कोई भेद-भाव नहीं रखते और न किसी तरह का दुराव, छिपाव ही रखते हैं वे बच्चे अपना ही नहीं सबके अस्तित्व का एक साथ ध्यान रखते हैं। उनमें भेद-भाव करने की भावना नहीं रहती।

बच्चों में अनुकरण करने की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति होती है। माँ बाप अभिभावकों का जीवन उनके लिए निकटतम और आत्मभाव से भरा हुआ प्रतीक, आदर्शों का केन्द्र होता है। इस तरह माँ-बाप के ऊपर ही बच्चों के निर्माण का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। माँ-बाप अपने इस उत्तरदायित्व को समझें और प्रयत्न करें तो इन खिलते हुए

कुसुमों में सद्गुण, सद्भावों, अच्छी आदतों, सदाचार, शील, पुरुषार्थ, साहस आदि का सौन्दर्य और सुगन्धि भर जाए और सामान्य से बच्चों में ही अनेकों महापुरुष निकल सकते हैं। प्रकृति शरीर देती है किन्तु मनुष्य उसे व्यक्तित्व तथा मनुष्यता देता है।



बच्चों को सभ्य-सामाजिक बनाइये

अधिकतर देखने में आता है कि लोग अपने बच्चों को हर प्रकार से पारिवारिक ही अधिक बनाना चाहते हैं। वे समझते हैं कि बच्चा जितना पारिवारिक बनेगा, उतना ही परिवार के लिए, उनके लिए और स्वयं बच्चे के लिए हितकर होगा।

पारिवारिक दृष्टिकोण होने से वह अपने भाई बहिनों को प्यार करेगा। सयाना होकर उनकी मदद करेगा और मिलजुल कर रहेगा। उनके कहने पर चलेगा, सारी कमाई घर पर लाएगा। बुढ़ापे का सहारा बनेगा, उनका नाम रोशन करेगा और परिवार को आगे बढ़ाएगा।

सामाजिक बनने से वह स्वतन्त्र हो जाएगा, या सारी कमाई समाज के कामों में लगा देगा। क्या पता कोई ऐसा काम कर बैठे जो सरकार की आँखों में खटकने लगे। परिवार अथवा परम्पराओं के विरुद्ध चलने लगे। कहीं ऐसा न हो कोई स्वतंत्र विचारधारा अपना ले और हाथ से बे हाथ हो जाए और फिर जिस सन्तान से सुख की आशा करते हैं वह दुःख का कारण बन जाए।

इस प्रकार की विचारधारा रखने वाले माता-पिता या तो सामाजिकता का सही अर्थ नहीं समझते, या जानबूझकर अपने संकीर्ण दायरे से बाहर नहीं आना चाहते। फिर भी इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में तत्वतः कोई मौलिक अन्तर नहीं है। किसी बात को न समझना या समझकर भी उसको न करना एक ही बात है।

बच्चे के, या बच्चे से आशा किए जाने वाले सब प्रकार के हितों को एकीभूत करके यदि उसमें किसी सर्वांग पूर्ण प्रतिभा का निर्माण किया जाए, तो जो मूर्ति तैयार होगी, उसको निर्विवाद रूप से सामाजिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

सामाजिकता एक इतना व्यापक परिवेश है, जिसकी परिधि में क्या व्यक्ति, क्या परिवार और क्या राष्ट्र, सभी कुछ समा जाता है। जो वैयक्तिक है, जो पारिवारिक है वह केवल पारिवारिक है, किन्तु जो सामाजिक है वह सब कुछ है।

आज यदि बच्चे को सामाजिक न बनाकर किसी संकीर्ण सीमा का अभ्यस्त बना दिया जाता है, तो अवश्य ही कल उसका विकास रुक जाएगा और उससे की जाने वाली सारी आशाएँ धूल में मिल जाएँगी। वह एक भीरू, संकुचित और समाज से दूर-दूर रहने वाला निरीह प्राणी बन कर रह जाएगा। दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है ? लोग क्या कर रहे हैं ? उसे क्या करना है इन सब सामान्य ज्ञानों से शून्य जो बच्चे केवल परिवार के कूप-मंडूक बन जाते हैं, उनसे कोई बड़ी आशा रखना केवल एक विडम्बना होगी। अतएव क्या परिवार और क्या समाज अथवा राष्ट्र, इन सबके हित के लिए यह परम आवश्यक है कि कल के नागरिक बच्चों को आज से ही सामाजिक बनने में सहायता की जावे।

सामाजिक के लिए सभ्यता पहली शर्त है—और सभ्यता का अर्थ है—कुछ भी ऐसा न करना, जिसका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, किसी प्रकार का भी अवांछनीय प्रभाव, स्वयं उस पर या किसी अन्य पर पड़े।

बस, यदि इस मूल मंत्र का अभ्यास बच्चों को करा दिया जाए तो उनको सभ्यता में ढालने के लिए किसी को बड़े भारी बालविज्ञान की आवश्यकता न पड़ेगी, पर उसके लिए, उससे भी पहले आवश्यक यह है कि बच्चों के अभिभावक स्वयं सभ्य बनें।

साधारणतः माता पिताओं का यह विश्वास होता है कि उनकी सन्तान, उनको ईश्वर प्रदत्त, ऐसी सम्पत्ति है जिसको वे जिस तरह चाहें उपयोग में ला सकते हैं। वे अपने सिवाय और तो और

स्वयं बच्चे का भी अधिकार उस पर नहीं समझते और अपने इस अधिकार के प्रति सबसे अधिक जागरूक भी रहते हैं। वे सदैव यही चाहते हैं कि उनके बच्चे यंत्रवत् ही आज्ञानुसारी रहें और यदि किसी प्रकार वे उनके मौन मनोभावों के अनुसार परिचालित हो सके तब तो उनके संतोष का ठिकाना ही न रहे।

किन्तु वे यह नहीं सोचते कि जहाँ कोई बच्चा उनकी सन्तान है, वहाँ वह एक स्वतन्त्र इकाई भी है। जहाँ उस पर उनका अधिकार है, वहाँ कुछ अधिकार समाज और राष्ट्र का भी है। किसी का बच्चा होने के साथ-साथ वह समाज का भी है। यदि आज वह अपने माता-पिता के सहारे समाज में चलता है तो कल उसे एक स्वतंत्र सदस्य की हैसियत से समाज में व्यवहार करना होगा। यदि उसको व्यवहारिक तैय्यारी कर समाज में न उतारा गया तो अवश्य ही वह अयोग्य विद्यार्थी की तरह असफल हो जाएगा और भले ही अनिवार्य आवश्यकताएँ उसे कुछ सिखा लें, तथापि वह प्रारम्भ से तैय्यारी किए हुए व्यक्ति की भाँति कुशल न हो सकेगा। निःसन्देह वह समाज में पिछड़ा हुआ और घिसट-घिसट कर चलने वाला पंगु सदस्य होगा। जो न तो समाज से ही कुछ लाभ उठा सकेगा और न समाज को ही उससे कुछ लाभ हो सकेगा। अतएव, अपना समझने के साथ-साथ बच्चे को एक स्वतंत्र इकाई मान कर पालन-पोषण किया जाना चाहिए।

उससे ठीक-ठीक वैसा ही व्यवहार करना श्रेयस्कर है जैसा एक सभ्य नागरिक से करना है। उसे जन्म-जात अपना अधिशासित समझकर हर समय आदेश की भाषा में न बोला जाए। इससे उसके मानसिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। हर समय आदेश की भाषा सुनते सुनते उसमें खिन्नता और मलीनता का प्रादुर्भाव होने लगता है। उसे हाथ का बरतन मानकर मिनट-मिनट पर छोटे-छोटे कामों के लिए दौड़ाना ठीक नहीं। इससे कर्त्तव्यों के प्रति अरुचि और गुरुजनों के प्रति अश्रद्धा होने लगती है, जिससे वह उनसे मुँह छिपाने की कोशिश करने लगता है।

बच्चों से अरे-तुरे अर्थात् ''तू बड़ा खराब है'', ''तेरी किताब कहाँ है'', ''तुझे कितनी बार समझाया अथवा 'इधर आ', वहाँ चला जा, कहाँ था'' आदि बुरे लगने वाले तिरस्कारात्मक शब्दों में न बोलना चाहिए। इससे उनमें आत्म-ग्लानि और हीनता का भाव पैदा होता है और वे छोटे भाई-बहनों से इसी प्रकार बोलकर जबान खराब कर लेते हैं। बात-बात पर उनकी आलोचना करने, डाँटने-डपटने और मारने पीटने से वे विद्रोही हो जाते हैं, जिससे उनमें असहमति और असहयोग की भावना उत्पन्न हो जाती है।

बच्चों को महत्त्वहीन समझकर व्यवहार करने से वे अपने को नगण्य और अनुपयोगी समझने लगते हैं जिससे आगे चलकर उनमें आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है। किसी काम के न कर सकने अथवा बिगड़ जाने पर उनकी खिल्ली उड़ाना अथवा उनके किसी बचपने से मनोरंजन करना उचित नहीं है। इससे वे हतप्रभ और चिड़चिड़े हो जाते हैं। उनकी किसी निर्णय में दी हुई राय, कही हुई बात को, भले ही वह कोई अर्थ न रखती हो एक दम बहिष्कृत कर देने से उनकी हिम्मत टूट जाती है, जिससे ठीक बात कह सकने में भी हिचकने लगते हैं। उनसे बात-बात पर यह कहना- 'अजी तुम क्या जानो अभी बच्चे हो' अच्छा स्वभाव नहीं है। उससे आगे बढ़ते हुए उनके बुद्धि-तत्त्व को धक्का लगता है, जिससे उनमें अयोग्यता अंकुरित हो सकती है।

इस प्रकार के और न जाने कितने व्यवहार हैं जो बच्चों से नहीं किए जाने चाहिए। किन्तु अभिभावक अपनी गुरुता के गर्व में बच्चों सम्बन्धी व्यवहार में सोच-विचार करना अपने गौरव के अनुरूप नहीं समझते, जबकि यही सबसे बड़े गौरव की बात है कि उनके व्यवहार से बच्चे होनहार बन कर समाज में अपना स्थान निर्धारित कर सकें।

बच्चों की सहज अनुकरण बुद्धि और सुकुमार मानसिक धरातल को ध्यान में रखकर ही व्यवहार करना चाहिए। जिससे यदि वे अनुकरण करें तो अच्छी बातों का और यदि कोई संस्कार उनके मन पर पड़े तो अच्छा ही पड़े।

बच्चों के पालन पोषण का अर्थ केवल यही नहीं है कि भूख लगने पर रोटी खिलादी जाए, कपड़े फटने पर कपड़े बनवा दिए जाएँ, माँगने पर पैसे दे दिए जाएँ और जरूरत पड़ने पर पुस्तकें आदि ले दी जाएँ और इससे अधिक कुछ किया तो स्कूल की ओर खदेड़ दिया। बाकी अपना खेलो-कूदो, पढ़ो-लिखो और बड़े होते रहो।

बच्चों का पालन-पोषण केवल अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझकर ही नहीं, राष्ट्र एवं समाज की धरोहर मानकर करना चाहिए। समाज की आगामी आवश्यकता को ध्यान में रखकर उसका निर्माण ठीक उस जिम्मेदारी से करना चाहिए जिस प्रकार एक शिल्पी कोई भवन बनाता है अथवा कोई ईमानदार इंजीनियर पुल का निर्माण कराता है।

बच्चों को क्षमता भर सुन्दर से सुन्दर वातावरण में रखना चाहिए। उनसे आदर पूर्वक बात की जानी चाहिए जिससे उनके मन पर ऊँचे संस्कारों की छाप पड़े। जहाँ तक हो अधिक से अधिक उस स्तर की परिमार्जित भाषा में बात करनी चाहिए जिस स्तर की कक्षा में वे पढ़ रहे हों। इससे उन्हें अच्छी भाषा बोलने-समझने का अभ्यास होगा और उनका शब्द-कोष बढ़ेगा। उनसे दिन में अवकाश के समय नियमित रूप से देश-विदेश के ऐसे विषयों पर कुछ न कुछ अवश्य बात अवश्य करनी चाहिए। जिसको वे किसी हद तक समझ सकें ओर जिनमें उनकी रुचि और हित सन्निहित हो। इससे उनकी विचार परिधि का प्रसार होगा और उनमें सार्वदेशिक एवं सार्वभौमिक चेतना का स्फुरण होगा।

बच्चों को अदब सिखाने के लिए आवश्यक है कि उनका भी अदब किया जाए। उन्हें साधारण शिष्टाचार की शिक्षा दी जाए और परिवार में गुरुजनों तथा भाई-बहनों के साथ अभ्यास कराया जाए, उनकी झिझक दूर करने और मिलनसार बनाने के लिए घर आए अतिथियों और मित्रों का स्वागत करते समय उनके बच्चों का स्वागत बच्चों से कराना अधिक श्रेयस्कर होगा। आगन्तुकों के समक्ष उनसे ऐसा व्यवहार किया जाना चाहिए जिससे वे अपने को परिवार का महत्त्वपूर्ण अङ्ग अनुभव कर सकें। इससे परिवार के माध्यम से

उनमें सद्‌भावना का भाव बढ़ेगा और दूसरों के मन में उनके प्रति आदर उत्पन्न होगा। नवागन्तुकों के साथ परिचय कराते समय ऐसी शैली का प्रयोग किया जाना चाहिए जैसे वे एक दूसरे के पूरक हों।

कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चों को ऐसे व्यवहार और वातावरण के बीच रखा जाना चाहिए जिससे उनमें बड़प्पन और विनम्रता की भावना बढ़े। अवसर आने पर उन्हें ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सुन्दर स्थानों पर साथ ले जाना चाहिए। इससे उनमें ज्ञान की वृद्धि होने के साथ-साथ नवीन स्थानों के आचार-विचार और रहन-सहन से भी परिचय होगा जो आगे चलकर उनको बहुत काम देगा।

इस प्रकार यदि प्रयत्न करके बच्चों की वर्तमान पीढ़ी को सभ्य सामाजिक बनाकर जीवन-क्षेत्र में उतारा जाए तो कोई कारण नहीं है कि आज का सड़ा-गला समाज सुन्दर और स्वस्थ रूप में न बदल जाए।

बच्चों की इस सामाजिक शिक्षा के लिए परिवार ही सबसे उपयुक्त संस्था है। क्योंकि इसके सब सदस्य एक दूसरे के स्वभाव से भली भाँति परिचित होते हैं और एक नैसर्गिक सम्बन्ध सूत्र में बँधे होते हैं। भाई बहनों के बीच अपने अभिभावकों की सहायता से वे जितना सुन्दर और स्थायी शिक्षण परिवार में पा सकते हैं उतना किसी बाहरी शिक्षा केन्द्र में नहीं। परिवार में छोटे-बड़े, तरुण, वृद्ध, स्त्री और पुरुष सभी प्रकार के सदस्य स्वभावतः उपलब्ध रहते हैं जिनके बीच क्या मौखिक और क्या व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा सहज रूप में दी जा सकती है। परिवार में शिक्षण के सारे उपादान और साधन पहले से ही मौजूद रहते हैं, उनको नए सिरे से संचय करने अथवा जानबूझ कर शिक्षण के लिए अनुकूल अवसर और व्यवस्थाएँ तैयार करने की आवश्यकता नहीं है। परिवार में सब कुछ एक प्राकृतिक प्रवाह में चलता रहता है। कृत्रिमता से रहित जिस सहज स्वाभाविक सामाजिकता की आवश्यकता है, उसका ठीक-ठीक शिक्षण परिवार के अतिरिक्त और कहीं नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार कहना असत्य न होगा कि समय और समाज के अनुकूल जिस नागरिक ने अपना एक भी बच्चा सभ्य-सामाजिकता के साथ आज राष्ट्र को दे दिया उसने मानो एक अश्वमेध यज्ञ करने के बराबर पुण्य प्राप्त कर लिया।



बच्चे क्यों झगड़ालू हो जाते हैं?

जो माताएँ गर्भावस्था में खान-पान और आचार विचार पर नियंत्रण नहीं रखतीं, अर्थात् चरपरे कड़ुवे, खट्टे, गरिष्ठ, व गर्म आदि तामसी वस्तुएँ खाती-पीती और लड़ती झगड़ती रहती हैं, उनके बच्चे बहुधा क्रोधी, चिड़चिड़े और झगड़ालू होते हैं। क्योंकि उनके रक्त और स्वभाव का, बच्चे के निर्माण पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

बहुधा माताएँ उस दशा में अपनी स्थिति, सामान्य स्थिति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और अधिक पूर्ण समझने लगती हैं। ठीक होते हुए भी, इसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी कलह का कारण बन जाती है। क्योंकि, परिवार के लोग उसे, उनका अभिमान समझकर, असहयोग को स्थान देने लगते हैं। उनको यह ज्ञान ही नहीं रहता कि इस प्रकार के व्यवहार से आगामी सन्तान के स्वभाव पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

प्रायः गर्भावस्था में माताएँ कुछ अलसाई और थकी-थकी सी रहने के साथ, ऐसी मनोदशा के आश्रित हो जाती हैं, जो बड़ी चंचल और चटोर होती है। अपनी उस चंचलता की पूर्ति न होने से, उनके मन में एक कुढ़न, झल्लाहट और नाराजगी रहने लगती है, जिससे वे बात-बात पर लड़ने, झगड़ने और कलह करने लगती हैं, जिससे बच्चे के संस्कारों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

गर्भावस्था में माताओं को कैसे रहना चाहिए और उन्हें किस प्रकार रखना चाहिए, इस पर विचार करके व्यवहार करने की आवश्यकता तो एक प्रकार से भारतीय समाज से लोप हो गई है। बहुत

शिक्षित परिवारों और माता-पिताओं की बात तो कही नहीं जा सकती, सामान्य परिवारों में तो इस बात पर विचार करने के भाव का जन्म ही नहीं होता। निदान ऐसे परिवारों में, जिनकी कि संख्या भी अधिक है, अधिकतर बच्चे जिद्दी और झगड़ालू होते हैं। जो आगे चल कर क्या परिवार और क्या समाज सभी के लिए एक समस्या बन जाते हैं।

गर्भावस्था की बात ही नहीं, बच्चे के जन्म के बाद भी उन बातों का ध्यान नहीं रक्खा जाता है, जिनसे उस पर अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। सौर काल में माताएँ, कुछ समय के लिए एक स्थान पर बंध कर रहने को विवश होती हैं। एक स्थान पर उनकी आवश्यकताओं की और इच्छाओं की पूर्ति करने के कर्त्तव्य और कुछ अपने अनुभव अन्य निर्देशक के अधिकार से, सौरगृह की सहायिकाएँ, बढ़ी बूढ़ियाँ, माता को शान्त चित्त और प्रसन्न नहीं रहने देतीं, जिसका फल यह होता है कि सौर समय में कभी-कभी कलह और कहा सुनी हो जाती है। जिससे उस शिशु का चेतन अबोध अवस्था में भी अदृश्य रूप से वातावरण का प्रभाव ग्रहण करने लगता है।

पथ्यपूर्वक खान-पान के अभाव में दूध के माध्यम से जो तामस तत्त्व बच्चे के रक्त में संचित होते रहते हैं, वे आगे चलकर उसके बुरे स्वभाव के रूप में प्रकट होते हैं। इसलिए गर्भ से लेकर पय-पान पर्यन्त माता को स्वयं और समस्त घर वालों को ऐसे आहार-विहार एवं आचार विचार की व्यवस्था रखने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे बच्चे के निर्माणोन्मुख संस्कार, तामसिक विकारों से सुरक्षित रहें।

बच्चे के कुछ खाने पीने और हँसने-बोलने के समय से लेकर, जब तक वह स्वयं समझ की अवस्था में न पहुँच जाए तब तक उससे जो व्यवहार किया जाता है, उसका प्रभाव पूर्वापेक्षा कुछ अधिक शीघ्र और स्थायी पड़ता है। अस्तु, उस काल में खूब समझ-बूझकर व्यवहार करने की आवश्यकता है।

जो माता-पिता हर तरह की अच्छी बुरी चीजें हर समय प्रेमवश खाते रहने की छूट दे देते हैं उनके बच्चों का मन और मस्तिष्क स्वस्थ रूप में विकसित नहीं होता और न उनका शारीरिक स्वास्थ्य ही ठीक रहने पाता है, जिससे उनके अन्दर, एक क्षोभ और

क्रोध स्थायी रूप से घर कर लेता है, जो बात-बात पर लड़ने-झगड़ने और दुराग्रह के रूप में सामने आता है।

छोटे-बच्चों के सामने, परिवार में बड़ों के बीच कलह होने से, उसके कीटाणु उनके मस्तिष्क में भी प्रवेश कर जाते हैं, क्योंकि क्रोध और कलह का प्रभाव रोग की तरह ही संक्रामक होता है। साथ ही बच्चों को कलहपूर्ण वातावरण पसन्द नहीं होता। उसमें उन्हें एक परेशानी और तकलीफ होती है। उसे रोक सकने में विवश होने के कारण, वे मजबूरन सहन करते हैं, जिसकी घुटन से उनमें एक आक्रोश भावना उत्पन्न हो जाती है, जो कभी-कभी उनके रो पड़ने के रूप में प्रकट होती है। नित्य प्रति ऐसा वातावरण रहने से उसे सहन करते-करते वे अन्दर ही अन्दर और कर्कश हो जाते हैं, जो उनके झगड़ालू बनने में सहायक होता है।

इस प्रकार जो बच्चे शैशव काल से ऐसे संस्कार लेकर बाल्यकाल में प्रवेश करते हैं, उनकी झगड़ालू वृत्ति, जिद और दुराग्रह के रूप में माता-पिता एवं भाई बहनों के साथ धीरे-धीरे उलझाव के रूप में मूर्त होने लगती है। जिससे एक प्रकार से स्थूल झगड़ों का सूत्रपात हो जाता है, जो आगे चलकर बड़ी खराब स्थिति प्राप्त कर लेता है।

बच्चों का हठी होना भी अच्छा नहीं होता। क्योंकि तीन हठों में बालहठ भी बहुत विकट होता है। इसलिए सदैव ही बच्चे का हठी स्वभाव ही सारे झगड़ों की जड़ होता है।

बच्चों के हठी बनने के प्रमुख कारण में एक तो उनका लाड़ प्यार है। दूसरा कारण तामसी स्वभाव जिसका संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब रही लाड़-प्यार की बात। वैसे तो सभी माता पिता अपने बच्चों को प्यार करते ही हैं। किन्तु कुछ उनकी अनुचित जिद को पूरा करना प्यार मानते हैं। कदाचित् वे सोचते होंगे कि उचित बात तो उचित है ही उसका मानना क्या? बात तो तब है जब बच्चे की अनुचित बात भी मान ली जाए। इसका फल यह होता है कि वे जीवन भर के लिए दुराग्रही बन जाते हैं। अपनी गलत बात को मनवाने का प्रयत्न और दूसरे की सही बात को भी न

मानना उनके मस्तिष्क की एक विशेषता बन जाती है, जिससे सामाजिक व्यवहार में हर समय विग्रह होने की आशंका रहती है।

बहुत से अभिभावक एक बच्चे से दूसरे बच्चे को पिटवाते हैं जिससे वह मारपीट करने का आदी हो जाता है और बाहर अपने साथियों से झगड़ा करने लगता है। अनेक अभिभावक मनोरञ्जन के लिए एक बच्चे को दूसरे बच्चों से भिड़न्त कराते हैं, जिससे उनकी झगड़ालू प्रवृत्तियों को उत्साह मिलता है।

प्राय: अभिभावक बच्चों की उपस्थिति में पास पड़ोसियों से विवाद करने लगते हैं, जिससे रक्त के सम्बन्ध से उन्हें भी जोश आने लगता है और वे अवसर पाकर आपस में लड़ पड़ते हैं।

बहुत से अभिभावकों की यह इच्छा रहती है कि उनके बच्चे अन्य बच्चों पर शेर होकर रहें। इसके लिए या तो वे उन्हें घुमा-फिरा कर शिक्षा देते हैं, या झगड़ा होने पर उनका अनुचित पक्षपात कर साहस बढ़ाते हैं।

कुछ अभिभावक बच्चे से यह शिकायत पाते ही कि "अमुक बच्चे ने उसे मारा है या कुछ कहा है" तत्काल उसके अभिभावक पर चढ़ दौड़ते हैं और बिना तथ्य तक पहुँचे ही विवाद करने लगते हैं। इसमें बच्चों को बड़ा मजा आता है और वे बार-बार ऐसी परिस्थिति पैदा करने का प्रयत्न करते हैं जिससे बड़े-बड़े झगड़े पैदा हो जाते हैं।

अनेक अभिभावक अवश्य यह चाहते हैं कि जिन से उनका विवाद हो गया है, उनसे उनके बच्चे भी बुराई मानें और जहाँ तक हो सके उनके बच्चों को तंग करें। बहुत से तो पीढ़ी दर पीढ़ी अपनी शत्रुता की थाती आन देकर बच्चों को सौंप जाते हैं। कहना असत्य न होगा कि अभिभावकों की यह मनोवृत्ति समाज के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है, जिससे समाज में बड़े-बड़े अपराधों की परम्परा सी पड़ जाती है।

कुछ अभिभावक स्वयं भी बड़े हठी होते हैं। जब-तब अकारण ही छोटी-छोटी बातों में बच्चों के आड़े आ जाते हैं। जैसे, वे प्राय: बच्चों को खेलने और घूमने से यों तो मना ही नहीं करते, किन्तु कभी यदि वे विशेष तौर पर ऐसा करना चाहते हैं तो उन्हें न करने

देने के लिए अड़ जाते हैं और किसी प्रकार अपने हठ का जवाब हठ से देने लगते हैं।

कुछ अभिभावकों का अजीब स्वभाव होता है। वे "अब तो ऐसा नहीं करेगा" के स्थान पर "ऐसा और करेगा" पर ज्यादा जोर देते हैं। जिससे बच्चों के मस्तिष्क में उल्टे उत्तरों की प्रतिक्रिया होती है।

बहुत से अभिभावक किसी बात को लेकर इतने अधिक सवाल जवाब करते हैं कि एक विवाद जैसा वातावरण पैदा हो जाता है। कभी-कभी तो वे दोनों ओर के सवाल-जवाब स्वयं कर लेते हैं। जैसे "आप वहाँ क्यों गये"? "कहो न कि मैं आपकी कोई बात नहीं मानना चाहता", "आपको मेरा डर तो बिल्कुल है ही नहीं"। "है न यही बात।" "कहते क्यों नहीं कि हाँ यही बात है"और यदि वह इसके विपरीत उत्तर देता है—"कि नहीं मैं आपकी बात मानना चाहता हूँ" तो उसे यह कह कर पीटते है—कि "आप झूठ बोलते हैं, न आप मेरी बात मानना चाहते हैं और न मुझसे डरते हैं" और जब तक उससे उल्टी बात का समर्थन नहीं करा लेते तब तक पीछा नहीं छोड़ते। इससे बच्चे में उनकी बात न मानने और न डरने की प्रवृत्ति जाग उठती है, जिससे वे उच्छृंखल और निरंकुश हो जाते हैं।

बहुत से अभिभावक बच्चे को अपने सामने झगड़ते हुए देखकर भी आँख बचा जाते हैं और जब उनका बच्चा निर्बल पड़ता है तो झट दौड़कर दूसरे बच्चे को झटक देते हैं। इससे बच्चा झगड़ा करने के लिए शह पाता है।

कुछ अभिभावक बच्चे को खूब खाने-पीने को उत्साहित करते हुए कहा करते हैं जो चाहो खूब खाओ पिओ मगर इस खाए पिए को लजा मत देना"—इससे बच्चा खाए पिए की शक्ति आजमायी के लिए जब-तब साथियों से भिड़ा करता है।

कुछ अभिभावक अपने बच्चे के बल-पराक्रम की प्रशंसा उसके मुँह पर ही करने लगते हैं, जिससे वह उसे चरितार्थ करने का अवसर खोजा करता है।

कभी-कभी अभिभावक बच्चे को साहसी और निर्भीक बनाने के लिए ऐसी उत्तेजक उपाधियों से विभूषित करते हैं जिनसे

स्वभावत: उसके मन पर झगड़े की प्रतिक्रिया होती है। सामान्यत: इस प्रकार के उद्बोधक वाक्य जैसे "बड़ा शेर है, बड़ा दबंग है अथवा किसी से दबना तो जानता ही नहीं" बच्चे को झगड़े की ओर अग्रसर करते हैं।

बच्चे की झगड़ा करने की शिकायत आने पर कोई-कोई अभिभावक या तो शिकायत करने वाले की बात ही नहीं लगने देते, अथवा उस समय बच्चे को यों ही डाँट फटकार देते हैं और बाद में उससे कह देते हैं मैंने तो यों ही उसे दिखाने के लिए डाँट दिया था, उसका लड़का खुद बहुत लड़ाका है। इससे बच्चे के मन में शिकायत का भय भी निकल जाता है और कभी-कभी वास्तविक डाँट को भी दिखावा समझ लेता है।

इस प्रकार बहुत सी ऐसी बातें हैं जो देखने में तो बड़ी साधारण सी लगती हैं किन्तु बच्चे पर उनका दूषित प्रभाव बहुत दूर तक पड़ता है। इसलिए अभिभावकों को चाहिए कि सूत्रपात से लेकर बच्चों के बाल्य-काल तक उनके सम्बन्ध में जो भी व्यवहार करें सावधानी के साथ करें। यदि उन्होंने इस अवधि में बच्चों को इस प्रकार के दोषों से बचा लिया तो मानो उन्होंने बच्चे का, अपना स्वयं और समाज तीनों का बड़ा हित किया। अन्यथा उनके बच्चे उत्तरोत्तर झगड़ालू होकर असाध्य हो जाते हैं जिससे वे उनसे जीवन भर दु:खी ही रहते हैं।



बच्चों को हठी न होने दीजिए

यों तो सभी बच्चे कुछ न कुछ हठी होते हैं, किन्तु कुछ बच्चे तो इतने हठी होते हैं कि उनके माता-पिता हर समय परेशान रहते हैं। उनके हठ की प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ जाती है कि वे हर बात के लिए हठ करने लगते हैं। जो बात साधारणत: पूरी हो सकती है उसमें भी हठ के लिए कोई न कोई कारण निकाल लेते हैं। जैसे वह

अपनी माँ से पैसे माँगता है और उसको इनकार किया जाता है तब तो वह हठ करेगा ही। इसके विपरीत यदि उसे पैसे दिए भी जाते हैं तब भी वह उनके कम ज्यादा होने के विषय में मचल उठेगा। यदि उसे चार पैसे दिए गए हैं तो वह छः के लिए हठ करेगा और यदि छः दिए गए हैं तो आठ के लिए हठ करेगा। तात्पर्य यह कि किसी इच्छा अथवा आवश्यकता की वह तब तक पूर्ण तुष्टि नहीं मानता जब तक किसी न किसी प्रकार हठ न कर ले। इसी प्रकार वह खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, उठने बैठने, खेलने-कूदने आदि सारी साधारण एवं असाधारण सभी बातों में हठ का कारण निकाल लेता है।

कभी-कभी बालकों का यह स्वभाव हठ की परिधि लाँघकर निषेधात्मक प्रवृत्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। बालकों की यह प्रवृत्ति बड़ी खराब होती है। इस प्रवृत्ति के बालकों को संतुष्ट करना बड़ा कठिन होता है। साथ ही वे हठ पूरा हो जाने पर भी पूर्ण रूप से स्वयं भी सन्तुष्ट नहीं हो पाते।

किसी माँग को पूरी कराने के लिए हठ करना एक बात है और माँग पूरी होने पर हेर-फेर कराने के लिए जिद करना दूसरी बात है। यह दोनों बातें परस्पर भिन्न हैं। इस स्वभाव के बच्चे निषेधात्मक, विरोधात्मक अथवा अस्वीकृतात्मक प्रवृत्ति के होते हैं। जिसका सुधार बड़ा दुःसाध्य होता है।

बच्चों के हठी हो जाने के अनेक कारण होते हैं। जिनमें सबसे प्रमुख कारण होता है माता-पिता द्वारा उसकी हर बात को तत्काल मान लेना। वह बात उचित हो अथवा अनुचित। बच्चे की ज्यों-ज्यों हर बात मानी जाती है त्यों-त्यों उसकी इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं। एक दिन ऐसा आता है कि उसकी हर इच्छा पूरी कर सकना अभिभावकों के लिए कठिन हो जाता है और इनकार करना पड़ता है। इधर बच्चा अपनी इच्छा पूर्ति का इतना अभ्यस्त हो चुका है कि इनकार होते ही उसको एक धक्का लगता है जिससे उसे

तकलीफ होती है और उस तकलीफ को दूर करने के लिए हठ का सहारा लेता है। उसके लिए रोएगा, मचलेगा और तरह-तरह से कलह क्लेश करेगा। कपड़े उतारने लगेगा, उनको नोचने लगेगा, स्कूल नहीं जाएगा, खाना नहीं खाएगा, बाल नोचेगा, सर पटकेगा और विविध प्रकार की ऐसी हरकतें करेगा जिससे अभिभावक घबराकर, ऊबकर अथवा मजबूर होकर उसकी इच्छा पूरी कर दें।

किन्तु जिन बच्चों को अपनी हर बात पर हमेशा इनकार सुनने को मिलता है, उनका हठ इस प्रकार का नहीं होता। उनका हठ कोई बाह्य आन्दोलन का रूप न लेकर मन ही मन पलता रहता है, जिससे वे अन्दर ही अन्दर अपने अभिभावकों के प्रति विरोधी हो जाते हैं जो आगे चलकर स्पष्ट रूप में एक साथ प्रकट होता है। उन्हें माता-पिता से कोई विशेष लगाव नहीं रहता और अधिकतर वे कुछ सयाने होते ही अपना कमाने और अलग रहने की सोचने लगते हैं।

साथ ही अपनी इच्छा पूर्ति के लिए उनमें बुरी आदतें पैदा हो जाती हैं, वे किसी चीज के लिए पैसे चुराते हैं, खाने के लिए चीजें चुराते हैं और कोई काम करने के लिए अभिभावकों की नजर बचाते हैं। इस तरह एक प्रकार से उनमें चोरी एवं छिपाव का स्वभाव आ जाता है।

इसके अतिरिक्त हर बात में इनकार पाने वाले बच्चे अधिकतर दीनहीन होकर दयनीय भी हो जाते हैं। वे दूसरे बच्चों को देखकर तरसने लगते हैं, लालची बन जाते हैं और ईर्ष्यालु भी हो जाते हैं। उनमें एक ऐसी हीनभावना आ जाती है जिससे वे साधारण और सामान्य बातों में भी सामंजस्य नहीं कर पाते और अकारण दबते या झेंपते रहते हैं। उनके आत्म-विश्वास और आत्म-महत्त्व की भावना का ह्रास हो जाता है जो उनके विकास में हर प्रकार से बाधक होता है।

हठी स्वभाव के बालक न केवल माता-पिता के ही लिए परेशानी के कारण बनते हैं अपितु पाठशाला में अध्यापकों के लिए भी एक समस्या बन जाते हैं। कभी कोई प्रश्न पूछे जाने पर यदि उन्हें

उसका उत्तर नहीं आता तो चुपचाप खड़े रहेंगे और 'हाँ, ना' में कोई उत्तर ही नहीं देंगे। अध्यापक कितना भी कुछ बोलने के लिए क्यों न कहें वे उनकी ओर देखते हुए गुम-सुम खड़े रहेंगे। डांटने पर चुपचाप आँसू गिराने लगेंगे किन्तु बोलेंगे नहीं। उन्हें न बोलने की जिद सवार हो जाती है। इस प्रकार बड़ी देर तक कक्षा में, अध्यापक के बार-बार कुछ उत्तर देने के लिए कहने और उसके न बोलने का झंझट पड़ा रहता है। जिससे पूरी कक्षा का नुकसान होता है। उनके मौन से सारे बच्चे एक परेशानी अनुभव करते हैं। दो एक बार ऐसा होने पर अध्यापक हठी बच्चे की उपेक्षा कर देते हैं जिससे पाठशाला में वह असहाय-सा हो जाता है, पाठशाला जाने से जी चुराने लगता है। घर से पाठशाला के लिए चलता है, लेकिन पाठशाला न जाकर इधर-उधर घूमता रहता है जिससे उसके आवारा हो जाने की सम्भावना रहती है।

दूसरे बच्चों के साथ खेलने में भी हठी बच्चों की पटरी नहीं बैठती। वे साथी चुनने में हठ करेंगे, गेंद या बल्ला लेने या पहले खेलने के लिए जिद करेंगे, हार जीत न मानने में उलझन करेंगे, इस प्रकार वे न सुविधापूर्वक स्वयं खेलेंगे और न दूसरों को खेलने देंगे। एक आध बार ऐसा करने पर साथी उसका बहिष्कार कर देते हैं और वह अकेला रह जाने से सबसे चिढ़ने या झगड़ा करने लगता है जिससे आगे चल कर वह दिनों-दिन झगड़ालू होता जाता है।

इसलिए हठी बनने से रोकने के लिए माता-पिता को हर सम्भव उपाय करना चाहिए। माताओं को इस दिशा में अधिक सजग रहने की आवश्यकता है क्योंकि छोटे बच्चों का अधिकतर सम्पर्क उन्हीं से रहता है। बच्चों के खाने-पीने, पहनने, ओढ़ने और पैसा आदि देने का सम्बन्ध उन्हीं से रहता है। साथ ही वे कोमल स्वभाव की भी होती है और बच्चा पिता की अपेक्षा उनसे डरता भी कम है। इसलिए माँ से हठ करने और उसके पूरे होने की सम्भावना अधिक रहती है।

जहाँ बच्चा किसी बात के लिए थोड़ा बहुत मचला या रोया कि उनका कोमल हृदय विचलित हो उठा और बच्चे की माँग पूरी हुई। उनको अपने मातृ-भाव के सामने यह विचार करने का मौका ही नही रहता कि बच्चे की मांग उचित है अथवा अनुचित है और यदि मांग अनुचित भी होती है तब भी बच्चे के प्रति प्यार अथवा उलझन से बचने और समय बचाने के लिए वे उसके हठ को जल्दी से जल्दी पूरा कर देती हैं।

माताओं को चाहिए कि वे बच्चे के हित को ध्यान में रखकर अपने वात्सल्य का ऐसे अवसर पर नियन्त्रण रक्खें। बच्चे की हर माँग की विवेचना करके उसे पूरा करें। यदि माँग उचित है तब भी तत्काल पूरा करने के बजाय इस ढंग से थोड़ी देर टाल कर पूरा करें जिससे कि उसमें धैर्य रखने की प्रवृत्ति पैदा हो। बच्चे की माँग पूरी करने के लिए न तो तत्काल स्वयं अधीर हो उठना चाहिए और न इतनी टालमटोल करनी चाहिए जिससे वह अधीर हो उठे।

जहाँ तक सम्भव हो बच्चे की अनुचित माँग को कदापि पूरा न किया जाए। इस विषय में अवश्य ही इतनी दृढ़ता बरती जानी चाहिए कि वह हठ छोड़ने पर मजबूर हो जाए और यदि किसी कारणवश उसकी अनुचित माँग करने की मजबूरी ही आ पड़े तो उसे तत्काल पूरी न करके विलम्ब से उस समय इस ढंग से पूरी करनी चाहिए जिससे उसे हठ के विजयी होने का अनुमान न हो सके। इस प्रकार दो एक-बार परास्त होने पर अनुचित बात के लिए उसका हठ शिथिल पड़ जाएगा।

वास्तव में किसी अनुचित बात के लिए ही बच्चों का हठ ठीक नहीं होता, उचित बात में भी नहीं। कोई भी उचित माँग करना उनका अधिकार है। उनके इस अधिकार की यथा सम्भव रक्षा करना अभिभावकों का नैतिक कर्त्तव्य है। कोई उचित माँग पेश करने पर इनकार कर देना उनके प्रति एक अत्याचार है। आवश्यकताएँ तो बच्चे को भी हो सकती है। यदि माता-पिता उसकी आवश्यकताएँ

पूरी नहीं करेंगे तो वह उनके लिए किससे अनुरोध करेगा। उसके पास स्वयं अपना कोई साधन या स्रोत तो होता नहीं जिससे वह अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर लें और न वह इतना बुद्धिमान् ही होता है कि बिना आवश्यकता पूर्ति के काम चला ले, साथ ही वह इतना संयमी भी नहीं होता कि किसी आवश्यकता को उत्पन्न ही न होने दे। हर दशा में वह अपनी आवश्यकता अपने माता-पिता के सम्मुख ही रखने को मजबूर है।

ऐसी दशा में यदि उसे बार-बार निराश होना पड़ेगा तो वह अवश्य हठी होने लगेगा। यदि उसके उचित हठ को भी डाट-डपट और मार पीट कर दबा दिया जावेगा तो उसका मन अवश्य अपने माता-पिता की ओर से फिर जाएगा। वह अपनी आवश्यकता किसी से कुछ उधार लेकर अथवा मांगकर पूरी करेगा। जिससे उसका सम्मान दूसरों की ओर हो जाएगा। बच्चों के लिए यह स्थिति अच्छी नहीं होती। उसमें लोभ, लालच और याचना की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। दूसरे लोग इसका लाभ उठाकर बच्चे को माता पिता के प्रति विद्रोही बना देते हैं। यदि मित्र नहीं तो कम से कम वैमनस्य मानने वाले लोग तो इसका फायदा उठायेंगे ही।

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए बच्चों की उचित माँग अवश्य मान लेना चाहिए किन्तु इसमें भी इतनी जल्दी नहीं करनी चाहिए जिससे वह उन्हें बार-बार तत्काल पूरी कराने का आदी हो जाए क्योंकि कभी-कभी कोई उचित माँग न पूरी कर सकने की स्थिति हो सकती है और तब तत्काल पूर्ति का अभ्यास उसके विषय में परेशानी पैदा करेगा।

कभी-कभी उचित माँग भी अनुचित होती है, जैसे वह घर के नियमानुसार कुछ पैसे मांगने और पाने का अधिकारी है किन्तु यदि वह अपने पैसे माँगता है पतंग उड़ाने या आतिशबाजी जलाने के लिए तब उसकी वह उचित माँग अनुचित ही है और किसी दशा में भी पूरी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि ऐसी माँगों का उसका अधिकार

समझकर यदि पूरा किया जाएगा तो जहाँ एक ओर हठ की सम्भावना है वहाँ दूसरी ओर उसमें अन्य बुरी बातें पैदा हो जाने की आशंका है। इसलिए बच्चे की उचित माँग को भी विश्लेषण किए बिना पूरी न करना चाहिए।

बच्चे को हठी बनने से रोकने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि उसकी आवश्यकताओं का स्वयं ध्यान रक्खा जाए और उनकी ठीक समय पर उसके बिना कहे ही पूरा कर दिया जाए। इस प्रकार वह अपनी आवश्यकता खुद समझने और उनको पूरा करने के प्रयत्न से मुक्त होकर माता-पिता पर निर्भर रहेगा जिससे उसके लिए हठ करने का कोई अवसर ही न आएगा और यदि कभी उसके कहने का अवसर आ भी जाएगा तो वह माता-पिता के सामने प्रस्ताव करेगा, स्वयं हठ पूर्वक उसकी माँग न करेगा। जिन बच्चों को विश्वास रहता है कि उनके माता-पिता उनकी हर बात का ध्यान रखते हैं, वे बच्चे अपने माता-पिता के सदा अनुकूल रहते हैं और कभी परेशान नहीं करते। किसी बात के लिए इनकार किए जाने पर भी उनके मन में कोई कुण्ठा अथवा क्षोभ की उत्पत्ति नहीं होती।

किन्तु इस बात में भी यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि उनकी इस निर्भयता से वे आगे चलकर परावलम्बी न बन जाएँ। इसलिए उनकी उचित माँग को पूरा करते समय यह समझाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि यह आवश्यकता उनकी क्यों थी और इस समय क्यों पूरी की गई और अनुचित बात के लिए इनकार करते समय उन्हें बताया जाना चाहिए कि इस बात से उनको अमुक हानि हो सकती है। इसलिए उनके हित में उनकी अमुक बात नहीं मानी गई है। इस प्रकार वे आवश्यकता के औचित्य एवं अनौचित्य के प्रति समझदार होकर कभी अनुचित हठ करने के अभ्यस्त न होंगे।



बच्चों को अनुशासन कैसे सिखाया जाए?

बच्चों को आज्ञापालक और अनुशासित बनाने का काम महत्त्वपूर्ण होते हुए बड़ा पेचीदा भी है। हमारे देश में बहुत कम ही माँ-बाप, अभिभावक-गण इस सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्य निभा पाते हैं। अधिकांश तो जीवन भर बच्चों की अनुशासनहीनता, उच्छृङ्खलता के प्रति शिकायत ही करते रहते हैं। आधुनिक बाल-मनोविज्ञान और बाल-शिक्षण पद्धति भी केवल पढ़ने-लिखने की बात रह गई है। पारिवारिक जीवन में इसका उपयोग नहीं के बराबर ही होता है।

बच्चों को अनुशासन सिखाने, अपनी आज्ञा मनवाने का प्रायः सभी लोग एक ही रास्ता अपनाते हैं, वह है, मारपीट या डाँटना-डपटना। सजा देकर बच्चों में अच्छी आदतें पैदा करने की एक परिपाटी-सी पड़ गई है। लेकिन बच्चों को सुधारने के लिए सजा देना बहुत पुराना नियम पड़ गया है। आज के विकसित युग में सत्सम्बन्धी खोज अनुभवों ने इसे व्यर्थ और अव्यवहारिक सिद्ध कर दिया है। बाल-मनोविज्ञान के ज्ञाता जानते हैं कि सजा के द्वारा बच्चों को सुधारने से समस्या जटिल बनती है। बच्चे का व्यक्तित्व संकुचित, अविकसित बनता है।

मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि बच्चा किसी भी बात को स्थायी रूप से तभी सीख पाता है, जब वह उसके बारे में सोचता है और यह निर्णय करता है कि ऐसा करना अच्छा है। कोई बालक घर से बाहर आवारा घूमता है, माँ बार-बार चिल्लाती है, लेकिन वह नहीं मानता, न घर का काम करता है, न पढ़ने में मन लगाता है। इस बात पर उसे पीटा जाए या अनुनय विनय की जाए तो वह नहीं मानेगा। भय के मारे कुछ समय वैसा न भी करेगा, लेकिन भय का कारण दूर हुआ कि वह फिर वैसा ही करने लगता है। लेकिन जब वह समझ लेता है कि आवारा घूमना, माँ का कहना न मानना बुरा है तो फिर ऐसा वह नहीं करेगा। घर

के सामान को खराब करने से बालक भय के आधार पर सदा सर्वदा नहीं रोका जा सकता, लेकिन जब वह जान लेता है कि सामान खराब करने से अपना ही नुकसान होता है तो वह ऐसा नहीं करेगा।

बाल-मनोविज्ञान इसी बात पर बल देता है कि बालक को कोई काम सिखाने के लिए उसके साथ जोर-जबर्दस्ती से काम लेने की आवश्यकता नहीं है, अपितु उसकी उपयोगिता, महत्ता को समझने-बूझने की स्थिति पैदा की जाए, जब बालक किसी बात के बारे में सही-सही सोच समझ लेता है तो फिर उसे सीख भी जल्दी ही लेता है। जो बुरा होता है, उसे जल्दी ही छोड़ देता है। बच्चे को अनुशासित बनाने के लिए हमें इसी आधार को लेकर चलना होगा। यद्यपि यह मार्ग अधिक कठिन है, इसके लिए अभिभावकों में अधिक बुद्धि, विवेक, चातुर्य, सूक्ष्म-दृष्टि होने की आवश्यकता है, तभी वे ऐसा करने में सफल हो सकते हैं। इसमें समय भी लगता है, प्रयत्न भी कई ढङ्ग से करने होते हैं तथापि स्थायी समाधान के लिए यह सर्वोपरि मार्ग है।

बहुत से माँ-बाप इसके लिए प्रतीक्षा न कर अधिक पचड़े में न पड़कर सीधे-सरल मार्ग से सजा देकर बच्चों को सुधारने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन इससे बच्चे बहुत बार सुधरने के बजाय बिगड़ते ही अधिक हैं या उनका यह सुधार बहुत ही कम स्थायी होता है। दण्ड के भय का कारण दूर होते ही बालक फिर वैसा ही करने लगता है, अथवा वह विद्रोही बन जाता है। उसमें कई मानसिक विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं और ये सभी उसके व्यक्तित्व को दूषित कर देते हैं।

अक्सर बच्चों की तरफ से शिकायत होती है कि वे समय पर नहीं उठते, न पढ़ते हैं। वे अस्त-व्यस्त जीवन बिताते हैं। उनके खेलने, खाने-पीने, पढ़ने आदि का कोई क्रम नहीं है, तो भी बार-बार बच्चों को डाँटना-डपटना ठीक नहीं। बच्चों के लिए दिन भर का एक कार्यक्रम निश्चित कर देना आवश्यक है। बच्चा जब थोड़ा-बहुत समझने लगे तो उसकी एक मोटी-सी दिन-चर्या बना दें और उसके अनुसार बालक को चलने का अभ्यास डालें। स्मरण रहे

दिनचर्या के नियम बनाते समय उसका श्रेय—महत्त्व बालक को देते हुए उसकी राय माँगें। अपने लिए बनाए जाने वाले कार्यक्रम में बच्चा जब स्वयं रुचि लेता है, तो उसे भली प्रकार निभाता भी है। कदाचित बालक निश्चित कार्यक्रम में भूल करे तो उसे संकेत कर देना चाहिए, जिससे बालक अपनी भूल को ठीक कर सके। किसी विशेष अवसर पर या परिस्थितिवश आवश्यकता पड़ने पर नियमित कार्यक्रम में हेर फेर भी किया जा सकता है। लेकिन बच्चे को नियमित क्रम-बद्ध जीवन-यापन का अभ्यास शुरू से ही कराना चाहिए।

बालक कोई भी गलत काम करे, उसे देखकर टालना नहीं चाहिए। तुरन्त बालक की भूल सुधार कर देना आवश्यक है, अन्यथा बार-बार एक तरह की गलती दुहराते रहने पर उसका अभ्यास पड़ जाता है और उसे ठीक करना कठिन हो जाता है। जैसे बालक पहली बार माचिस से खेलता हुआ पाया जाए तो उसे तुरन्त प्यार से यह समझा दिया जाए—"इससे आग लग जाती है और जल जाते हैं, इससे नहीं खेला करो, खिलौने से खेलो" और फिर बालक को खिलौने देकर उस ओर लगा देना चाहिए। जो माँ-बाप पहले प्यार वश या लापरवाही वश एक लम्बे समय तक बालक की भूलों को टालते रहते हैं, उस पर ध्यान नहीं देते और आगे चलकर जब बच्चे बड़े-बड़े नुकसान करने लगते हैं तो उन्हें मना करते हैं, रोकते हैं, लेकिन उनका अभ्यास ऐसा पड़ जाता है कि अब वे कहना नहीं मानते। अतः अनुशासन की सीख प्रारम्भ से ही बालक को छोटी छोटी भूल सुधार के माध्यम से देना आवश्यक है।

जिन वस्तुओं से बच्चों को खतरा हो अथवा कीमती वस्तुएँ जिन्हें बालक तोड़ता फोड़ता हो, ऐसी हालत में अच्छा यह है कि बच्चे की निगाह चुका कर अथवा उसका ध्यान खिलौने आदि में अन्यत्र लगाकर उन वस्तुओं को एक तरफ रख दिया जाए, जहाँ बालक की निगाह उन पर न पड़े। सीधे रूप में मना करने पर बालक नहीं मानेगा।

बात-बात पर बच्चों को नकारात्मक आदेश भी नहीं देने चाहिए। बालक कुछ करे और बाद में उससे 'ना' कहना पड़े, उसके पूर्व ही उसे रोक लेना चाहिए। क्योंकि किसी काम में जब बालक मनोयोगपूर्वक लग जाता है, तब उसे मना करने पर वह कई बार नहीं मानता। अतः अच्छा यही है कि उसे काम में लगने से पूर्व ही रोक लेना चाहिए। बार-बार मना करने पर बालक की एकाग्रता, मनोयोग नष्ट होता है। उसका जीवन निराशा से भर जाता है। अतः आवश्यकता पड़ने पर ही बालक पर 'ना' का प्रयोग करना चाहिए। वह भी बड़े स्नेह के साथ।

बच्चों से झूठे वायदे कभी न करें। इससे वह अपने माँ-बाप की हर बात पर अविश्वास करने लगते हैं, फिर उपयुक्त बात भी वह नहीं मानता। बच्चे के साथ जो वायदा किया जाए, उसे अवश्य पूरा करें। जिन्हें आप पूरे न कर सकें ऐसे वायदे कभी भी न करें।

क्रोध, झुँझलाहट, चिड़चिड़ाहट के द्वारा बच्चों को अनुशासन सिखाने का प्रयत्न न करें। इनसे बच्चों का सहज उत्साह नष्ट हो जाता है। वह मूक पशु की तरह बिना कोई 'ननुनच' किए आदेश पालन करने लगता है। वैयक्तिक स्वतन्त्र प्रतिभा कुन्द हो जाती है। वह असमय में ही कृत्रिम अनुशासन पालन करने के प्रयत्न में अधिक धीर-गम्भीर सोच विचार करने वाला बन जाता है, जो स्वस्थ दशा नहीं कही जा सकती।

बच्चों को अनुशासित रखने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता इस बात की है कि स्वयं माता-पिता भी अपने जीवन में अनुशासित रहें। नियमित व्यवस्थित जीवन बिताएँ। जो माँ-बाप स्वयं देर से उठें और बच्चों से कहें जल्दी उठो, स्वयं खेलने, घूमने फिरने में समय बर्बाद करें और बच्चों से कहें—'पढ़ो, समय खराब न करो' उनकी आज्ञा बालक नहीं मानेंगे। अभिभावकों को चाहिए कि अपने स्वयं के आचरण, व्यवहार, जीवन पद्धति से बच्चों को अनुशासन की सीख दें।

बच्चों के मित्र बनकर, उनको व्यवहार कुशल बनाइए

अपने बच्चों के अच्छे मित्र बनिए। मित्र इस माने में कि उनके साथ प्रसन्न रहिये, उनकी अभिरुचि से साम्य रखिए, सहायता कीजिए और उनको अहित से बचाइये।

बच्चों के साथ व्यवहार करने में इन मुख्य चार बातों का ध्यान रखने का मतलब है कि आप उनके साथ एक सच्चे मित्र का कर्त्तव्य निभाते हैं। जो अभिभावक अपने इस कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहते हैं, वे मानों अपने बच्चों का ठीक-ठीक पालन-पोषण करते हैं और जो इसकी उपेक्षा करते हैं, वे मानों बच्चे को समय की स्वतन्त्र लहरों पर छोड़ देते हैं कि वे जिस किनारे चाहें उन्हें ले जाकर लगा दें।

समय के सिर छोड़े हुए बच्चों का विकास जङ्गली झाड़ियों की तरह होता है। जिनमें फूल कम और काँटे अधिक होते हैं, उसमें भी अधिकतर फूल निर्गन्ध और गन्ध वाले फूल भी निरर्थक निरुपयोगी रह जाते हैं। इसके विपरीत जिन बच्चों का पालन, पालन के रूप में किया जाता है वे एक चतुर माली के व्यवस्थित उद्यान की भाँति सुन्दर और सुगन्धित होते हैं।

कुछ अभिभावक स्वभाव से बड़े सख्त और प्रभावशाली होते हैं। उनके आते ही घर में एक कोने से दूसरे कोने तक सन्नाटा छा जाता है। बच्चे जहाँ के तहाँ सहम कर ठिठक जाते हैं। सब खामोश हो जाते हैं। अगर बात भी करते हैं तो बहुत धीरे जैसे कोई अपराध कर रहे हों। सब एक दूसरे की ओर आश्रय की दृष्टि से देखने लगते हैं। सारे काम निर्जीव यन्त्र की तरह होने लगते हैं। घर के पूरे वातावरण में एक निरुल्लास परिवर्तत आ जाता है।

मानने को तो इसे अनुशासन माना जा सकता है किन्तु इस प्रकार का नियन्त्रण होता है कुछ आतङ्क की जाति बिरादरी का।

इसमें अदब से अधिक भय का अंश रहता है और भय की अनुभूति न किसी को पसन्द होती है और न उससे कुछ बनता है।

गृह–स्वामी के आने से जो एक प्रसन्नता पूर्ण कृतज्ञता परिवार में फैलनी चाहिए उसके स्थान पर सारे सदस्य एक प्रकार की परेशानी अनुभव करने लगते हैं। बच्चों को खास तौर से अपने मन में मस्तिष्क पर दबाव पड़ता मालूम होता है जिससे वे बड़े अस्तव्यस्त हो जाते हैं।

होना तो यह चाहिए कि पिता के आते ही सारे बच्चे पुलकित होकर पिताजी! पिताजी! कहते हुए चारों ओर से घेर लें और अपनी अपनी कहने सुनने लगें और पिताजी अच्छा, "हाँ" "यह बातें" कहते हुए हँसते मुस्काते बच्चों से घिरे कमरे में पहुँचें किन्तु होता है इसके विपरीत। उनके प्रवेश की आहट पाते ही खेलते और हँसते हुए बच्चे सहसा चुप होकर कतराने लगते हैं। उनके अर्धचेतन में कुछ इस प्रकार की प्रतिक्रिया झलक मार जाती है अच्छा होता पिताजी अभी थोड़ी देर न आए होते। उनके देर से आने में जल्दी आ जाने का आभास अनुभव होता है। यह अनुभूतियाँ श्रेयस्कर नहीं। इससे स्वाभाविक स्नेहिल प्रवृत्तियों का ह्रास हो जाता है।

कुछ अभिभावक बाहर की खीझ घर उतारा करते हैं। मानिए, उन्हें दफ्तर अथवा व्यावसायिक स्थान पर कुछ ऐसी स्थिति को सहन करना पड़ा है जिससे उनके मन में एक क्षोभ पैदा हो गया है। उन्हें कोई गलत बात सुनकर सहन करनी पड़ी है अथवा कुछ नुकसान उठाना पड़ा है, जिससे उन्हें एक मानसिक व्यग्रता है। यह ठीक है कि इस स्थिति में कुछ अच्छा नहीं लगता, फिर भी इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि उसका बदला घर आकर बच्चों से लिया जाए, उन्हें बोलते या पास आते ही झिड़का और डाँटा जाए। क्षोभ का स्थान घर नहीं है, न बच्चे इसके दोषी हैं। बाहर का वातावरण बाहर और घर का वातावरण घर बनाए रखना व्यवहार कुशलता है। इनको एक दूसरे से बदलना या इनका संमिश्रण कर

देना अनुचित है। इससे परिस्थिति सँभलती नहीं और बिगड़ जाती है। इसीलिए देश काल का विचार रखने की रीति पर जोर दिया गया है। अपने भावावेगों पर इतना नियन्त्रण अवश्य रखना चाहिए कि वे अयुक्त देशकाल में न प्रकट होने पावें।

बच्चों से ऐसा व्यवहार किया जाना चाहिए कि वे आपके आने पर प्रसन्न हो उठें और आने के समय आपकी प्रतीक्षा करें। जब वे अपनी अपनी बातें, शिकायतें और मुकदमे आदि आपके सामने रक्खें तो उनको सुनिए और चतुरता से उनका निराकरण करिए। उनके हँसने बोलने में हिस्सा लीजिए, बात करिए, कुछ प्रसन्न होइये और उनको प्रसन्न कीजिए। जिससे आपकी उपस्थिति से घर का वातावरण आतङ्क पूर्ण न होकर प्रसन्नता पूर्ण ही रहे।

अनेक अभिभावक बच्चों की रुचि का कोई महत्त्व ही नहीं देते, सदैव ही उनकी रुचि पर अपनी रुचि स्थापित किए रहते हैं। उनकी छोटी से छोटी रुचि अपना संशोधन किए बिना नहीं मानते। वे अपने इस विश्वास के वशीभूत रहते हैं कि बच्चा तो अक्ल का कच्चा होता ही है। उसकी पसन्द हर हालत में गलत होगी इसलिए उसमें उनका संशोधन आवश्यक है। यद्यपि उस संशोधन में एक आदत के सिवाय कोई गम्भीरता नहीं होती तथापि वैसा करेंगे अवश्य।

जैसे बच्चे ने कहा पिताजी मेरे लिए पीले रंग की पेंसिल लाइयेगा कि तुरन्त पिताजी ने व्यवस्था दी "तुम तो बेवकूफ हो, पीले रङ्ग की कहीं अच्छी होती है। पेंसिल तो नीले रङ्ग की ही ठीक होती है।" जहाँ उसने कहा मेरे लिए "जी" निब लाइयेगा कि तत्काल बोले तभी तो तुम्हारा लेख खराब है, रिलीफ निब से लिखना चाहिए। इस प्रकार अन्य बड़ी-बड़ी चीजों और पसन्दगी की बात तो क्या वे ऐसी जरा-जरा सी चीजों में भी संशोधन किए बिना नहीं मानते और उनके इस संशोधन में कोई स्थायी दृष्टिकोण नहीं रहता। उसके कहने से कभी ठीक बताई हुई चीज खराब और खराब बताई हुई चीज अच्छी बतला देंगे। जिससे वह कभी भी यह

नहीं जान पाता कि कौन सी चीज ठीक है और कौन सी खराब। इससे किसी चीज का चुनाव करने में उसे उलझन होने लगती है। वह हर चीज खराब समझने लगता है। कुछ निर्णय करने में उसे आत्म-विश्वास नहीं रहता।

हर अभिभावक को बच्चों पर कुछ करना ही होता है। उनके लिए चीजें खरीदनी होती हैं, उनकी आवश्यक मांग की पूर्ति करनी होती है। इसके लिए अभिभावक अधिकतर करते यह हैं कि वे बहुत दिन तक बच्चों की माँगों और आवश्यकताओं को सुनते रहते हैं और फिर एक दिन सारी चीज लाकर ढेर लगा देते हैं। इस प्रकार एक दिन बाद उनकी इच्छायें और रुचियाँ जाग्रत होने लगती हैं और तब वे आवश्यक न होने पर नई चीजें चाहने लगते हैं, जो ठीक नहीं होता।

अभिभावकों को चाहिए कि वे बच्चों की माँग पूरी करने के कार्यक्रम को इस प्रकार विभाजित करें कि उनका हर्ज भी न हो और प्रतिदिन या दूसरे तीसरे एक न एक नई चीज घर में आती रहे। इस प्रकार बच्चों को प्रति-दिन प्रसन्न और खुश होने का अवसर रहता है और घर का वातावरण प्रफुल्लित रहा करता है जो पारिवारिक जीवन के लिए बहुत शुभ है। जिन परिवारों में प्रसन्नता और प्रफुल्लता रहती है वे परिवार धनवान् न होते हुए भी सम्पन्न दिखाई देते हैं।

अभिभावकों को यथा सम्भव बच्चों की रुचि की रक्षा करनी चाहिए। उनकी रुचि पर अपनी रुचि को आदतन हठपूर्वक नहीं थोपना चाहिए। इससे पैसा खर्च करने पर भी बच्चे को सन्तोष नहीं होता। बच्चों की रुचि और प्रौढ़ों की रुचि में बहुत अन्तर होता है। चूँकि बच्चे की अपेक्षा अभिभावकों का उत्तरदायित्व अधिक होता है, इसलिए उन्हें बुद्धिमत्ता पूर्वक बच्चों की रुचि से अपनी रुचि का साम्य स्थापित करना चाहिए। जिन बातों में वे समझें कि बच्चे की रुचि ठीक नहीं रहेगी या तो उसमें उनकी रुचि को अवसर ही न दीजिए या उसे ठीक-ठीक पता रहे कि पापा सही कहते हैं। इससे

उसमें यह भावना न आने पायेगी कि छोटा होने के कारण उसकी बात नहीं मानी जाती है। अभिभावक के संशोधन में उपयोगिता, लाभ अथवा हित का समावेश अवश्य होना चाहिए। यों ही अकारण संशोधन ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार की आदत स्वयं एक बचपना है जो अभिभावक को शोभा नहीं देता।

बहुत बार बच्चों की बहुत सी ऐसी उलझनें हो जाती हैं जो उनके सुलझाए नहीं सुलझतीं। जैसे उनका किन्हीं दो वस्तुओं में से एक के लिए ही भाई-बहनों का उलझना। साथियों से झगड़ा हो जाना, हर काम बिगड़ जाना, पाठ और प्रश्न समझ में न आना, अध्यापक व अन्य गुरुजनों की नाराजगी दूर करना कोई आशङ्का अथवा भय दूर करना।

ऐसी उलझनें आ जाने पर यह कह कर निराश नहीं छोड़ देना चाहिए कि तुम्हारा मामला है, तुम समझो या तुमने खुद जैसा किया उसको भरो। अपितु उनकी उलझन को ध्यान पूर्वक सुनिए और उसको पूरी तरह समझकर और उसे समझाकर दूर करने में उसकी सहायता कीजिए। अपनी पुस्तकें, चीजें और कपड़े लत्ते आदि रखने, उठाने धरने और पहनने आदि में उनकी इस प्रकार सहायता कीजिए कि वे उनमें एक व्यवस्था की शिक्षा पा सकें। बच्चों को कपड़े लत्ते पहनने, पेटी लगाने, नाड़ा बाँधने, पतलून पहनने, बूट बाँधने उतारने और खोलने में उनकी तब तक मदद कीजिए जब तक वे कायदे के साथ ठीक-ठीक पहन ओढ़ और बाँध खोल न पाएँ। क्योंकि यदि उन्हें शुरू में इसका ठीक-ठीक अभ्यास नहीं हो जाता तो उनकी वह आदत जीवन भर नहीं जाती और परेशानी होती है। गलत गाँठ लगाने और बोलने से कमरबन्द में फन्दा पड़ जाना, बनियान का सर में उलझ जाना, उल्टी कमीज उतारना, गलत कोट पहनना, बटन टूट जाना, पेटी उतर जाना आदि रोजमर्रा की बात हो जाती है। इससे उन्हें सदैव परेशानी भी होती है और देखने वाले उन्हें बेवकूफ और बेसऊर समझते हैं। इस प्रकार

प्रति-दिन की साधारण से साधारण बातों में उनकी तब तक अवश्य मदद की जानी चाहिए जब तक वे ठीक से इसके अभ्यस्त न हो जाएँ। यह छोटी-छोटी उलझनें कभी-कभी बड़े-बड़े हर्ज और हानियों की कारण बन जाती हैं।

बहुत से अभिभावक कभी खेल में या किसी शरारत में यों ही अकस्मात् चोट लग जाने पर उनकी कोई मदद के बजाय उल्टा उन्हें डाँटते-फटकारते और मारने लगते हैं। यह ठीक नहीं। पहली गलती तो उसने की उस पर उल्टा उसे यह कहकर तुमने चोट लगाई है जाकर खुद ठीक करो, एक दूसरी गलती होगी। इससे वह अपने को निःसहाय समझ कर बड़ा निराश हो जाता है। अपना उपचार करने के लिए कोई गलत चीज लगाकर तकलीफ बढ़ा लेना और फिर बढ़ी हुई तकलीफ दूर कराने के लिए आखिर अभिभावक को ही उपचार करना होता है। इससे पहले उसको मदद करनी चाहिए और तब उससे चोट का कारण पूछकर गलती पर डाँटना चाहिए। अन्य भी ऐसी बहुत सी बातें हो सकती हैं जिसमें बच्चे को अभिभावक की सहायता की अपेक्षा होती है। ऐसे अवसर पर उसकी मदद अवश्य करनी चाहिए।

बहुत से अभिभावक बच्चे पर नाराज होकर अथवा प्रेमवश या अपनी उपेक्षा और प्रमादवश बच्चों को यह कहकर गलत काम करने या गलत आदत डालने से नहीं रोकते कि जैसा करेगा आप भरेगा, मैं बिना वजह सर क्यों खपाऊँ। यह स्वभाव ठीक नहीं। बच्चे क्या करते हैं, क्या सीखते हैं? कहाँ उठते बैठते हैं अथवा किस प्रकार के बनते जाते हैं। इस पर एक गहरी दृष्टि रखना प्रत्येक अभिभावक का परम कर्त्तव्य है। उनसे ऊब कर या झल्ला कर उन्हें जो चाहें करने और जैसे चाहें बनने के लिए नहीं छोड़ देना चाहिए। सावधानी पूर्वक तब तक उनके पीछे लगे रहना चाहिए जब तक ये ठीक रास्ते पर न आ जाएँ। इस विषय में आवेग, उद्वेग, आक्रोश अथवा अनिच्छा से काम न लेना चाहिए। उन्हें

एक हितैषी मित्र की तरह बुरी बातों से बचाना और अच्छी बातों की ओर प्रेरित करना चाहिए।

इस प्रकार के अभिभावक बच्चों से एक अच्छे मित्र की भाँति व्यवहार किया करते हैं उनके बच्चे निःसन्देह योग्य बनकर परिवार तथा समाज दोनों के लिए अच्छे मित्रों की भाँति ही उपयोगी बनते हैं।



बच्चों को व्यवहार कुशल बनाइये

बच्चों को व्यवहार कुशल बनाने के लिए उनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास करना बहुत आवश्यक है। जिन बच्चों में उत्तरदायित्व का भाव जाग जाता है वे हर काम बड़ी होशियारी से करते हैं। हर समय इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनसे कोई काम बिगड़ न जाए। उन पर कोई उंगली न उठा सके अथवा किसी समय वे उपहासास्पद न बन जाएँ।

व्यवहार कुशलता का सीधा-सा अर्थ है कोई ऐसी बात या कोई ऐसा काम न करना जिससे किसी को कोई तकलीफ पहुँचे अथवा वे आलोचना या उपहास के पात्र बन सकें।

यद्यपि सारे क्षेत्रों में किसी का पूर्ण रूपेण कुशल हो सकना असम्भव के समकक्ष जैसी बात है, तथापि समाज में साधारण व्यवहार कुशलता प्राप्त कर लेना सबके लिए सुसाध्य एवं आवश्यक है। जो सामान्य सामाजिक व्यवहार में कुशल नहीं होते वे अन्दर से अच्छे होते हुए भी समाज में उचित स्थान नहीं पा सकते। लोग उनके विषय में यह कहकर आलोचना किया करते हैं कि अमुक व्यक्ति हो सकता है अन्दर से अच्छा हो किन्तु व्यवहार से अच्छा प्रतीत नहीं

होता और समाज में इस प्रकार की धारणा लोगों को उसके प्रति शङ्कालु ही बनाए रखती है।

समाज में विनिमय, वार्तालाप, सम्बन्ध एवं सामंजस्य चार ऐसी बातें हैं जिनकी पृष्ठभूमि पर ही सारे सामाजिक व्यवहार आधारित रहते हैं। इन चार बातों को ठीक से व्यवहार कर सकने की योग्यता प्राप्त कर लेना ही व्यवहार दक्षता है।

विनिमय का अर्थ है, आदान-प्रदान अथवा लेन-देन। जो पैसे का, भावनाओं का अथवा विचारों का हो सकता है। विनिमय के व्यवहार में जहाँ तक हो सके सीमान्त स्पष्टता एवं ईमानदारी रखनी चाहिए। जैसे कोई वस्तु खरीदते समय अपनी चतुरता अथवा हीलोहुज्जत से दुकानदार को साधारण भाव से कम कीमत देने का प्रयत्न न करना चाहिए। क्योंकि इससे दुकानदार अपना नुकसान तो करेगा नहीं उल्टे अच्छा ग्राहक न समझ कर ऐसे व्यक्ति के हाथ कोई चीज बेचना पसन्द न करेगा और यदि एक बार, वह ग्राहक बनाने के लिए दब भी जाएगा तो दूसरी बार एक पैसे के दो पैसे वसूल कर लेगा और सबसे पहले घटिया चीज भिड़ाने की कोशिश करेगा। बार-बार ऐसा करने वाले व्यक्ति की साख ग्राहक के रूप में बाजार में कम हो जाती है और हजारों रुपये का सामान खरीदने पर भी वह आदर नहीं पा पाता जो उसे मिलना चाहिए।

अब रही कोई चीज बेचने की बात। कोई वस्तु बेचते समय सामान्य भाव से अधिक पैसे लेने के लिए बढ़ा-चढ़ा कर मूल्य बतलाना, घटिया चीज भिड़ाना या असन्तोष जनक ढङ्ग से विक्रय करने वाले की, दुकानदार के रूप में साख खराब हो जाती है और वह एक बड़ा दुकानदार होने पर भी न तो अपेक्षित बड़प्पन पा सकता है और न अधिक समय तक अपनी स्थिति बनाए रख पाता है। धीरे-धीरे ग्राहक संख्या कम करता हुआ छोटा सा दुकानदार रह जाता है।

इसी प्रकार पैसा लेने देने में समय और परिणाम में यथा सम्भव हेरफेर करने का प्रयत्न न करना चाहिए और यदि किसी

भ्रम, भूल या परिस्थितिवश ऐसा हो जाए या करना पड़े तो ईमानदारी से उनका स्पष्टीकरण करने में सङ्कोच न करना चाहिए।

वार्तालाप में सत्यता, शिष्टता एवं देशकाल का विचार रखना चाहिए। सत्य यदि शिष्ट नहीं है अथवा शिष्टता, सत्यता से परे है या दोनों बातें देशकाल के अनुकूल नहीं है तो अनुचित ही मानी जाएँगी।

सम्बन्ध मूलतः छोटे, समान, बड़े, पद, योग्यता एवं विशेषता के अनुसार छः प्रकार के होते हैं। जो जिस योग्य हो उससे उसी प्रकार का व्यवहार अपेक्षित है। इसके प्रतिकूल व्यवहार करना किसी भी दशा में ठीक नहीं है। जो जिस योग्य है उसको उसके अनुरूप स्थान देना बहुत बड़ी व्यवहार कुशलता है। छोटों से स्नेहिल, समानों से निःसंकोच और बड़ों से आदरपूर्वक वार्तालाप करना चाहिए। पद में बड़े और आयु में छोटे व्यक्ति भी आदर अदब के अधिकारी होते हैं। अपने से अधिक योग्यता अथवा किसी क्षेत्र में विशेषता वाला (जैसे कला आदि) व्यक्ति भी अपने से बड़े अथवा उच्च पद पर न होते हुए भी सम्मान एवं सद्व्यवहार के पात्र होते हैं। उनसे व्यवहार करने में इन बातों का ध्यान रखना न केवल आवश्यक ही अपितु अनिवार्य भी है।

सामंजस्य का अर्थ है अपने को इस तरह का बनाना कि हर व्यक्ति हर परिस्थिति तथा हर स्थान से समुचित समानता दिखला सके। जैसे दूसरे के दुःख में दुःख, सुख में सुख, परिस्थिति से अनुकूलता, स्थान से निरपेक्षता का भाव प्रकट कर सकें। किसी के सुख-दुख में उदासीन रहना, प्रतिकूल परिस्थिति में अधैर्य अथवा अयोग्य स्थान पर क्षोभ अथवा घृणा व्यक्त करना ठीक नहीं है। अपने अवांछित मानसिक आवेगों पर नियन्त्रण रखना व्यवहार कुशलता की महत्त्वपूर्ण शर्त है।

इस प्रकार इन व्यवहार सम्बन्धी आवश्यक बातों की शिक्षा देते हुए यदि बच्चों का पालन किया जाए तो कोई कारण नहीं कि वे व्यवहार कुशल न बन जाएँ। प्रारम्भ से ही बच्चों में इसकी चेतना का

विकास किया जाना चाहिए जिससे वे स्वतन्त्र व्यवहार करने की आयु तक पहुँचते-पहुँचते दक्षता प्राप्त कर लें। जिन बच्चों में इन बातों का विकास प्रारम्भ से नहीं किया जाएगा वे बच्चे उस आयु तक आवश्यक दक्षता प्राप्त न कर सकेंगे जिसमें पहुँच कर उनका कोई भी व्यवहार महत्त्व रखता है और अच्छा या बुरा माना जा सकता है।

बच्चे जब कुछ समझदार होने लगें यह कार्यक्रम तभी से शुरू कर दिया जाना चाहिए। सबसे पहले उन्हें परिवार के सदस्यों का परिचय कराया जाना चाहिए और उसी अनुसार उनसे व्यवहार का अभ्यास। यह माता है, यह पिता है, यह बड़ी बहन है, यह बड़े भाई हैं, आदि बतलाते हुए यह भी बतलाना चाहिए कि उनके चरण छूना, उनके प्रति आदर रखना उनकी आज्ञा मानना उसका परम कर्त्तव्य है। जो अपने से बड़े हैं, शिष्ट और अच्छे हैं, उनसे तुम नहीं आप कहकर बोलते हैं। उनसे गुस्सा नहीं करते और न कभी उनका तिरस्कार करते हैं। इसका अभ्यास कराने के लिए जब भी इसमें से किसी को बुलवायें या उसे उनके पास किसी काम से भेजें तब कभी ऐसा निर्देश न दिया जाना चाहिए जिससे उसमें कोई अनादर का भाव पैदा होने की सम्भावना रहे। जैसे "मुखिया को बुला लाओ" "विमलेश को आवाज देना" या "देखना, अम्मा क्या करती है?" इसके विपरीत कहना इस तरह चाहिए कि "अपनी दीदी जी को बुला लाइये" "अपने दद्दा बड़े भाई साहब या दादाजी को आवाज दीजिये" "जरा देखकर आइये कि आपकी माताजी क्या कर रही हैं?" कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार निर्देश देने से उसमें उस समय आदर की भावना ताजी हो उठेगी और उन्हीं शब्दों में उनसे बोलेगा क्योंकि बच्चों के प्रारम्भिक शब्द और सम्बोधन परिवार के गुरुजनों के ही दिए होते हैं। इस प्रकार हर समय इस बात का ध्यान रखने से वह कुछ ही समय में गुरुजनों से आदर पूर्वक व्यवहार करना सीख जाएगा।

व्यवहार में वार्तालाप का एक प्रमुख स्थान है। जिन बच्चों को शुरू में ही शब्दों और स्वर के संयम का अभ्यास करा दिया जाता है वे आगे चलकर बड़े मधुर तथा उपयुक्त भाषी हो जाते हैं। शब्दों का गलत उच्चारण करना स्वर को अनावश्यक रूप में ऊँचा नीचा करके बोलना अथवा वाक्यों को पूर्ण और ठीक न बोलना सम्भाषण का आकर्षण समाप्त कर देता है, जिससे दूसरों को उसकी बात न ठीक से समझ में आती है और न वे पसन्द ही करते हैं। अस्तु, शब्द स्वर और वाक्य विन्यास ठीक रखने के लिए उसे बहुत पहले से प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

सम्भाषण में नम्रता तथा देश काल और सम्बन्ध का विशेष ध्यान रखना चाहिए। किन्तु जिस भाषण में अधिक से अधिक सत्यता का समावेश नहीं है, वह नम्र और संयत होने पर भी अच्छा नहीं है। इससे बच्चा दूसरे की नजर में झूठा, गप्पी और अविश्वस्त हो जाता है और समाज में उसका आदर नहीं होता है।

इस प्रकर जो बच्चे, विनिमय, वार्तालाप, सम्बन्ध और सामंजस्य के ज्ञान से परिपूर्ण कर दिए जाते हैं वे निःसन्देह व्यवहार कुशल होकर समाज में अच्छे नागरिक बनकर अपना निश्चित स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

बालकों के निर्माण का आधार

बच्चों का सबसे पहला और प्रमुख विद्यालय होता है घर। घर के वातावरण में मिली हुई शिक्षा ही बालक के सम्पूर्ण जीवन में विशेषतया काम आती है। माता बच्चे का पहला आचार्य बताई गई है, फिर दूसरा नम्बर पिता का और इसके उपरान्त शिक्षक, आचार्य, गुरु का स्थान है। मानव जीवन की दो तिहाई शिक्षा माँ बाप की छत्रछाया में घर के वातावरण में सम्पन्न होती है। घर के वातावरण की उपयुक्तता, श्रेष्ठता पर ही बच्चों के जीवन की उत्कृष्टता निर्भर

करती है और जीवन की उत्कृष्टता शाब्दिक अक्षरीय ज्ञान पर नहीं वरन् जीवन जीने के अच्छे तरीके पर है।

अच्छा स्वभाव, अच्छी आदतें, सद्गुण, सदाचार ही उत्कृष्ट जीवन के आधार हैं जो पुस्तकों के पृष्ठों से, स्कूल, कालेजों, बोर्डिङ्ग हाउस की दीवारों से नहीं मिलते वरन् घर के वातावरण में ही सीखने को मिलते हैं। इन्हीं गुणों पर जीवन की सरलता, सफलता, विकास निर्भर होता है। जो माँ-बाप इस उत्तरदायित्व को निभाते हुए घर का उपयुक्त वातावरण बनाते हैं वे अपने बच्चों को ऐसी चारित्रिक सम्पत्ति देकर जाते हैं जो सभी सम्पत्तियों से बड़ी है, जिसके ऊपर सम्पूर्ण जीवन स्थिति निर्भर करती है।

घर में विपरीत वातावरण होने पर स्कूल कालेजों में चाहे कितनी अच्छी शिक्षा दी जाए वह प्रभावशाली सिद्ध नहीं होती। हालांकि स्कूल के पाठ्यक्रम में चरित्र, सदाचार, साधुता, सद्गुणों की बहुत-सी बातें होती हैं, पर वे केवल शाब्दिक और मौखिक ज्ञान का आधार रहती हैं अथवा परीक्षा के प्रश्नपत्रों में लिखने की बातें मात्र होती हैं। विद्यार्थी के जीवन में क्रियात्मक रूप से उनका कोई महत्त्व नहीं होता। इसका प्रमुख कारण घर के विपरीत वातावरण का होना ही होता है। बच्चों के नैतिक स्तर की जानकारी के लिए स्कूल में परीक्षा के उपरान्त बच्चों को ही अपनी कापियाँ जाँचने को कह दिया गया। बाद में जाँच करने पर पता चला कि बहुत से लड़कों ने अपने गलत सवालों में भी नम्बर दे दिए, कईयों ने फिर से नकल कर सही उत्तर लिख दिए। जिन्होंने अपने लिए अच्छे नम्बर दे दिए उनमें खाते-पीते, धनवान, अच्छे स्तर के कहे जाने वाले घरानों के बच्चे ही अधिक थे। गरीब अथवा साधारण स्थिति के घरों के बच्चे कम थे। ऐसा क्यों? अच्छे धनवान, सम्पत्तिशाली घरानों के बच्चे तो अच्छे होने चाहिए? किन्तु यह भूल है। ऐसे घरों में प्रायः बड़प्पन, सफेदपोशी, चातुर्य की आड़ में सदाचार, नैतिकता, सद्गुणों पर केवल ऊपरी, मौखिक निष्ठा होती है। बाह्य सफलता प्राप्त करना

ही इनका लक्ष्य होता है। उसके समक्ष जरूरत पड़ने पर वे सरलता से जीवन के नैतिक तत्त्वों का बलिदान कर देते हैं। धन, पद, प्रतिष्ठा, साधन सामग्री आदि जैसे उपलब्ध हो सके वैसा ही वे लोग आचरण करते हैं। इस तरह के अभिभावकों की छत्रछाया में पलने वाले बच्चे भी उनका अनुकरण करके अपनी सफलता के लिए अनैतिक तत्त्वों का आचरण करने में नहीं झिझकते।

जिन घरों में तनातनी, लड़ाई, झगड़े, कलह, अशान्ति रहती है वहाँ बच्चों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। जो माँ-बाप बच्चों के श्रद्धा, स्नेह के केन्द्र होते हैं, उन्हें बच्चे जब परस्पर लड़ते-झगड़ते, तू-तू मैं-मैं करते एक दूसरे को बुरा कहते देखते हैं तो बच्चों के कोमल हृदय पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उन बच्चों में माँ-बाप के प्रति तुच्छता, अनादर, संकीर्णता के भाव पैदा हो जाते हैं जो आगे जाकर उनके स्वभाव और व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं। अतः कभी भूलकर भी बच्चों के सामने माता-पिता को अपनी तकरार, लड़ाई-झगड़े की बात प्रकट नहीं होने देनी चाहिए। बच्चे सर्वत्र अपने माँ-बाप, भाई, रिश्तेदार, पड़ोसी सभी से प्यार और दुलार पाने की भावना रखते हैं। इसके विपरीत लड़ाई, झगड़े, क्लेश, अशान्ति से बच्चों के कोमल मानस पर आघात पहुँचता है।

कई माँ-बाप अपने बच्चों की गलत आदतें, तोड़-फोड़, सामान को बिखेरने, नुकसान करने आदि पर लाड़ प्यार वश कोई ध्यान नहीं देते, वरन् स्वयं उन्हें फिर से जुटा देते हैं। कोई चीज नष्ट हो जाने पर फिर उसे खरीद कर ला देते हैं। इस अनावश्यक उदारता और स्नेह, ममता का दूषित प्रभाव बच्चों में कई बुराईयाँ पैदा कर देता है। बच्चे इन गलत आदतों के अभ्यस्त हो जाते हैं, जो जीवन भर उनसे गलतियाँ और असावधानियाँ कराती हैं। सामान देना, अथवा कोई काम खुद कर लेना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना अपने बच्चों में सजगता, चातुर्य, सदाचार अच्छी आदतें पैदा करना। वस्तुतः माँ-बाप के लिए यही कसौटी का आधार है। जो चीज बच्चे

ने तोड़ी है उसका अभाव कुछ दिन बना रहने देना चाहिए ताकि वह अपनी भूल से उत्पन्न कठिनाई पर विचार कर सके।

बच्चों को किसी बात से रोकने अथवा उन्हें डराने धमकाने या कौतूहल पैदा करने के लिए भूत, चुड़ैल, हौवा आदि का डर दिखाना उनकी क्षमता, साहस, शक्ति को कुंठित करता है। साथ ही भय की प्रबल भावना पैदा करना है जो जीवन भर उनका साथ नहीं छोड़ती और यही भय की भावना उन्हें जीवन के किसी भी महत्त्वपूर्ण काम में हाथ नहीं डालने देती। ऐसे बच्चे बड़े होकर भी छोटी-छोटी बातों से भयभीत हो उठते हैं। इसका कारण बाह्य वातावरण नहीं अपितु बच्चों में घर की पैदा हुई भय की भावना ही होती है। घर में भूत, चुड़ैल आदि के भय की मान्यता रखना, इनमें विश्वास रख कर तरह-तरह के उपचार करना भी बच्चों में तत्सम्बन्धी भय की नींव जमा देता है। घर में किसी भी तरह के भय का वातावरण होना बुरा है।

उदारता, प्रेम, आत्मीयता, बन्धुत्व आदि की अनुकूल-प्रतिकूल भावनाओं का अंकुर बच्चों के प्रारम्भिक जीवन में ही लग जाता है। जिन बच्चों को माँ बाप का पर्याप्त प्यार दुलार, मिलता है, जिन पर अभिभावकों की छत्रछाया बनी रहती है, जो माँ बाप बच्चों के जीवन में दिलचस्पी प्रकट करते हैं, उनके बच्चे मानसिक विकास प्राप्त करते हैं। उनका जीवन भी उन्हीं गुणों से ओत प्रोत हो जाता है। माता-पिता के व्यवहार आचरण से ही बच्चों का जीवन बनता है। साहस, निर्भीकता, आत्म गौरव की भावना बचपन में घर के वातावरण से ही पनपती है।

माँ बापों के व्यसन, आदतों का अनुकरण बच्चे सबसे पहले करते हैं। माँ बाप का सिनेमा देखना, ताश खेलना, बीड़ी, फैशन, बनाव शृंगार का अनुकरण कर बच्चे भी वैसा ही करने लगते हैं। इसी तरह जो माँ, बाप सदाचारी, संयमी, विचार-शील सद्गुणी होते हैं वैसा ही प्रभाव उनके बच्चों पर पड़ता है।

परिवार के वातावरण में बच्चों के संस्कार, भाव, विचार, आदर्श, गुण, आदतों का निर्माण होता है जो उनके समस्त जीवन को प्रभावित करते हैं। उपदेश, पुस्तकों से जीवन की महत्वपूर्ण शिक्षा नहीं मिलती, यह तो घरों के वातावरण को स्वर्गीय, सुन्दर, उत्कृष्ट बनाने पर ही निर्भर करती है।



बालकों की शिक्षा में चरित्र निर्माण का स्थान

हमारे जीवन में शिक्षा का स्थान बहुत ऊँचा है। प्राचीनकाल के विद्वान भी कह गए हैं कि "विद्याविहीन मनुष्य बिना सींग-पूँछ का पशु ही है।" वास्तव में मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का उचित विकास शिक्षा द्वारा ही होता है और तभी वह संसार में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करने लायक बन पाता है।

इस सम्बन्ध में हमें एक बात बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि केवल किताबी पढ़ाई को ही शिक्षा नहीं समझना चाहिए। उससे भी पहली शिक्षा चरित्र गठन और आरोग्य की होनी आवश्यक है। यदि दोनों शिक्षाएँ पूरी हो जाएँ और किताबी शिक्षा में कुछ कमी भी रह जाए तो मनुष्य संसार में सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है। पर चाहे हम १५ ही वर्ष की आयु में बी०ए० पास करलें तो भी यदि हम अपने चरित्र और स्वास्थ्य को नहीं सँभाल सके हैं तो वह सब पढ़ाई बेकार ही समझनी चाहिए। एक विद्वान के कथनानुसार 'पहले प्रकार की विद्या सोने में सुगन्ध का कार्य करती है, समाज में एक चमकते हुए रत्न को उत्पन्न करती है, जबकि दूसरे प्रकार की शिक्षा एक भयङ्कर रोग से कम दुःखदाई नहीं होती। बन्दर के हाथ में तलवार देने से जो फल होता है, कोरी पुस्तकीय शिक्षा से भी वैसे ही फल की आशा रखनी चाहिए।'

जो लोग यह समझते हैं कि छोटी आयु से ही स्कूल में पढ़ाई आरम्भ कर देना और थोड़े ही समय में ऊँची डिग्री हासिल कर लेना बड़ी प्रशंसनीय बात है वे बड़ी गलती पर हैं। जो शिक्षा स्वास्थ्य को चौपट करके और सदाचार के सिद्धान्तों की उपेक्षा करके प्राप्त की जाएगी वह बहुमूल्य नहीं, वरन् धूल के समान है। उससे कल्याण होने के बजाय अपना, परिवार वालों का और आस-पास वालों का भी कुछ-न-कुछ अहित ही होगा। बालक की असली शिक्षा स्कूल में नहीं होती, वरन् वह होती है जो जन्मकाल से ही पाँच-सात वर्ष की उम्र तक घर में ही प्राप्त की जाती है। उसी अवधि में उसका उचित शारीरिक विकास होता है, मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है और उसमें नैतिकता तथा शिष्टाचार के गुणों का विकास होता है। इन सब बातों में सन्तोषजनक प्रगति कर लेने के पश्चात् पुस्तकों द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, वह कारगर होती है, उत्तम फल उत्पन्न करती है।

बच्चे को स्कूल में दाखिल कराते समय उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। जरा देर हो जाने से कुछ हानि नहीं होती पर कमजोर शरीर के बालक पर पढ़ाई का जबर्दस्त भार लाद देने से बहुत बुरा परिणाम होता है और वह जन्म भर के लिए अशक्त और रोगी बन जाता है। अँग्रेजों के एक बहुत प्रसिद्ध लेखक जान-स्टुअर्ट मिल ने अपनी बाल्यावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि बचपन में अत्यन्त तीव्र बुद्धि होने के कारण, उससे लाभ उठाने के लिए उसके पिता ने शारीरिक और मानसिक शक्ति का विचार किए बिना उसे इतना पढ़ा डाला कि बड़े-बड़े विद्वान उसके विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान को देखकर चकित रह जाते थे। पर अब जब मैं अपने बचपन की याद करता हूँ तो मेरा हृदय क्रोध और क्षोभ से भर जाता है। मुझे इस बात पर आश्चर्य होता है कि उस परिस्थिति में रहकर मैं पागल क्यों नहीं हो गया, क्योंकि मेरे पिताजी का ढङ्ग ऐसा ही था।

फिर इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सब बालकों को एक-सी शिक्षा देना हर्गिज लाभदायक नहीं हो सकता। खासकर शहर और गाँव के लड़कों को एक समान शिक्षा कभी उपयोगी सिद्ध नहीं होगी। शहरों के लोग प्राय: अपने लड़कों को कोई बड़ी या छोटी नौकरी प्राप्त कराने का उद्देश्य रखते हैं। वहाँ के शेष लोग अपने लड़कों को थोड़ा पढ़ना और हिसाब आदि सिखाकर व्यापार में लगाने का विचार रखते हैं। पर गाँव के लड़कों को इनमें से कोई शिक्षा लाभदायक नहीं हो सकती। अगर उसे ऐसी शिक्षा दी जाएगी तो उसका परिणाम यही निकलेगा कि वह अपने बाप के धन्धे में सहायता देने के अयोग्य हो जाएगा और अन्य किसी दिशा में भी उल्लेखनीय प्रगति न कर सकेगा। कितने ही अन्य देशों में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि ग्रामीण बालक पढ़-लिखकर भी अपने पैतृक पेशे से उदासीन न हो जाए। अमरीका के ग्रामीण स्कूलों में जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उनमें सब पाठ ग्रामीण-जीवन के उपयुक्त होते हैं। उनमें यदि गणित पढ़ाया जाता है तो उसके प्रश्न भी ऐसे रक्खे जाते हैं जो ग्राम की अर्थ व्यवस्था के अनुकूल हों। उन पुस्तकों में कृषि सम्बन्धी विभिन्न कार्यों, फसलों में सुधार, फलों की खेती आदि के सम्बन्ध में उपयोगी वैज्ञानिक ज्ञान सरल भाषा में दिया जाता है।

शहरों के स्कूलों में भी बालकों की रुचि वैभिन्य का ख्याल नहीं रखा जाता और सबको एक लाठी से हाँका जाता है। उनमें से कोई क्लर्क बनता है तो कोई शिक्षक, कोई कलाकार होता है तो कोई कारीगरी के क्षेत्र में प्रवेश करता है। पर इन सबको प्राय: स्कूल और कालेजों तक एक-सी शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार उनकी कितनी शक्ति और समय बर्बाद हो जाता है और उसका समस्त राष्ट्र की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ता है, यदि इसका कभी हिसाब लगाया जाए तो मालूम होगा कि हम स्वयं अपनी उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटका रहे हैं और इतने अधिक मानव श्रम तथा मानसिक शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं कि जिसके द्वारा हमारा बहुत हित साधन हो सकता है।

इस प्रकार हमारे यहाँ की शिक्षा बिना किसी उचित योजना और व्यवस्था के अस्त-व्यस्त ढङ्ग से चल रही है। अधिकाँश माँ-बाप बचपन में सिवाय बच्चों को लाड़-प्यार में रखने के उसकी आदतों और चरित्र निर्माण के विषय में न तो कुछ जानते हैं और न कुछ प्रयत्न करते हैं। यदि कोई थोड़ा-बहुत जान भी लेता है तो उसके पास इतना समय नहीं होता कि वह इस सम्बन्ध में सदैव ध्यान दे सकें। इसके बाद पाच-छः वर्ष की आयु में जब बच्चों को पढ़ने के लिए स्कूल में भेजा जाता है तो वहाँ अध्यापक भी उसकी घर की आदतों और स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर ध्यान दिए बिना एक ही ढर्रे पर चलाने लगते हैं। इतना ही नहीं अधिकांश शिक्षक तो अब भी ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं जो बच्चों को धैर्य पूर्वक नए वातावरण के अनुकूल बनाने की अपेक्षा धमकाने, डाँटने-डपटने और छड़ी का भय दिखाने से ही काम लेते हैं। पुराने ख्याल के शिक्षकों में तो यह विचार घुसा ही हुआ है कि पढ़ाई पीटने और भय दिखाने से ही होती है। इस प्रकार बच्चों का शिक्षक उनका भाग्य ही होता है और वे संयोगवश जो कुछ बन जाते हैं उसी पर उनको सन्तोष करना पड़ता है।

सभी विचारशील व्यक्ति यह कहते हैं कि बच्चों पर ही देश और जाति का भविष्य निर्भर है और उनकी शिक्षा की ठीक-ठीक व्यवस्था होने से ही हम एक सुखी और समृद्ध राष्ट्र बन सकते हैं। पर व्यवहार में इस पर अमल करने की कोई चेष्टा देखने में नहीं आती। जैसा हमने आरम्भ में ही कहा है कि सब प्रकार की शिक्षा की नींव मनुष्य का चरित्र और शारीरिक तथा मानसिक शक्ति का उचित विकास है। इसलिए जो माता-पिता तीन-चार वर्ष की आयु में बच्चे को कुछ समझदार देखकर उसे वर्णमाला और पहाड़े सिखाकर प्रसन्न होते हैं, वे वास्तव में बड़ी गलती करते हैं। हमने ऐसे सैकड़ों बालक देखे हैं जो बाल्यावस्था में बड़े चपल और बुद्धिमान प्रतीत होते थे, पर दस-बारह वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते बिल्कुल निकम्मे, आवारा और पढ़ने के बजाय तरह-तरह के

दुर्गुणों से ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए घर और स्कूल में भी सबसे पहले बच्चों के चरित्र और स्वभाव के निर्माण पर ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि ये बातें ठीक हो गईं तो वह फिर अपनी योग्यता के अनुसार कोई भी शिक्षा प्राप्त कर सकता है और उसी से उसका भावी जीवन सुखी बन सकेगा।



किशोरों के निर्माण में सावधानी बरती जाए

आज की तरुण पीढ़ी अपराध एवं अनुशासन-हीनता की ओर वेग से बढ़ती जा रही है। यह दुष्प्रवृत्ति न केवल वर्तमान के लिए ही भयप्रद है बल्कि भविष्य के लिए भी भयानक है। जो आज बिगड़ गया है वह कल आने वाले के लिए बुराई का उदाहरण बन जाएगा। वर्तमान को देखकर आने वाला भविष्य भी अनुकरण करता हुआ वैसा बन जाएगा। इस प्रकार समाज में बुरी प्रवृत्तियों की एक परम्परा लग जाएगी। इस प्रकार बढ़ती हुई अपराध, अनुशासनहीनता, अशिष्टता एवं अश्लीलता की दूषित प्रवृत्तियाँ ठीक नहीं। इन्हें रोकने का यथा सम्भव प्रयत्न किया ही जाना चाहिए।

हर नागरिक किसी न किसी की सन्तान हुआ करता है। यदि अभिभावक प्रारम्भ से ही अपने बच्चों में शुभ-संस्कारों के बीज बोएँ तो आगे चलकर वे अच्छे नागरिक ही बनें। अच्छे नागरिक अपने बच्चों को अच्छा बनाएँगे ही। इस प्रकार एक-दो पीढ़ी बाद समाज से बुरी प्रवृत्तियों का उन्मूलन हो जाएगा। इस दिशा में अभिभावक अपना कर्त्तव्य समझें और उसे पूरा करने का भरसक प्रयत्न करें। किशोर की बुद्धि परिपक्व नहीं होती। इसलिए वह अपना भला बुरा स्वयं ठीक से नहीं समझ पाता। इस समय किशोर को यदि

पूरी तरह उसी पर छोड़ दिया जाता है तो उसके बहक कर विपथगामी हो जाने का ही डर रहता है और फिर आज तो चारों ओर का वातावरण विपथ गमन को ही प्रोत्साहित करने वाला हो गया है! इस व्यवस्था में एक बार बहक जाने पर किशोर अपने स्वास्थ्य एवं चरित्र को चौपट किए बिना नहीं मानेगा। वह कुछ ही दिनों में दुर्गुणों एवं दोषों का भंडार बन कर अपना होनहार जीवन अभिशाप बना लेगा और आगे चल कर अपने पाप से समाज में विकृतियों की वृद्धि करेगा। उसका आचरण तथा व्यवहार परिवार और समाज दोनों के लिए ही अहितकर बन जाएगा।

ऐसी स्थिति होने पर भी किशोरों को उनकी अपनी जिम्मेदारी पर पूरी तरह छोड़ा नहीं जा सकता। अभिभावकों को उनके परिवार के समाज के तथा राष्ट्र के हित में उन पर नजर रखनी होगी। उनके निर्माण में हाथ देना ही होगा। ऐसा करने में उनका मार्ग डाट-डपट अथवा मारपीट का न होकर प्रेम, परामर्श तथा व्यवहार, संस्कार का हो सकता है।

अभिभावकों को चाहिए कि वे किशोरावस्था प्रारम्भ होने से पूर्व ही अपने बच्चों पर शुभ-संस्कार डालने प्रारम्भ कर दें, जिससे कि निरंकुशताप्रिय किशोरावस्था में उन्हें अभिभावकों का परामर्श एवं व्यवहार अस्वाभाविक न अनुभव हो। बाल्यकाल से बने हुए मार्ग पर वे बिना किसी द्वन्द्व के आसानी से चलते चले जाएगें। बाल्यकाल से ही उनके मन बुद्धि को जो दिशा दे दी जाएगी किशोरावस्था में भी उनकी गति उसी दिशा में बनी रहेगी। मनुष्य के मन और बुद्धि गहराई से पाए हुए मार्ग से समान्यतया विचलित नहीं हो पाते। इसलिए बालकों पर उच्च संस्कारों का सृजन बाल्यकाल से करना अभिभावकों के लिए सरल भी होगा और उपयुक्त भी।

किशोरों में शुभ संस्कार सृजन के लिए घर का वातावरण अनुकूल होना बहुत आवश्यक है। उपयुक्त वातावरण के अभाव में उपदेश, शिक्षा तथा परामर्श का कोई भी वांछित प्रभाव उन पर नहीं

पड़ेगा। वाणी की अपेक्षा वातावरण का प्रभाव मनुष्य के मन मस्तिष्क पर अधिक गहराई से पड़ता है। उपयुक्त वातावरण के बीच शुभाचार विचार की शिक्षा किशोरों के मानसों में द्विगुणित रूप से फलवती होती है। घर का वातावरण उत्तम होने से किशोर का मन-मस्तिष्क तथा शारीरिक स्वास्थ्य भी उत्तम होगा। उसका चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न रहेगा। ऐसी दशा में साधारण भोजन भी पौष्टिक पदार्थों की तरह ही गुणकारी होगा। शरीर में शुद्ध रक्त का निर्माण होगा जिससे बलवीर्य की वृद्धि के फलस्वरूप उसकी स्मृति बलवती होकर शीघ्र ही शुभ संस्कारों को ग्रहण करने के स्वभाव में परिवर्तित कर देगी।

जिन घरों में दिन रात हाय-हाय और किच-किच बनी रहती है उन घरों के बच्चे बहुत कम स्वस्थ, सुशील तथा सभ्य बन पाते हैं। कितना ही बचाव क्यों न किया जाए वे वातावरण के अशुभ संस्कार ग्रहण किए बिना न मानेंगे। लड़ाई, झगड़े, द्वेष, डाह के अनुपयुक्त वातावरण में बालक, स्वस्थ, सुन्दर, सुशील एवं दीर्घजीवी न बन सकेंगे जबकि उन्हें वास्तव में बनना ऐसा ही चाहिए। उनके अङ्गों का विकास रुक जाएगा। प्रसन्नता के अभाव में उनकी पाचन क्रिया बिगड़ जाएगी। पुष्टि कारक धातुओं का निर्माण रुक जाएगा। उनकी कार्यक्षमता का ह्रास होगा। वृत्तियां कठोर एवं कर्कश हो जाएगी, जिससे कि वे दया, उदारता, सहानुभूति, सहायता तथा संवेदना के मानवीय गुणों से वंचित रहकर अनुपयुक्त नागरिक ही बनेंगे। बच्चों के निर्माण में घर के वातावरण का बहुत महत्त्व है। अभिभावकों को चाहिए कि वे बच्चों के हित में घर का वातावरण हर मूल्य एवं प्रयत्न से उपयुक्त बनाए रक्खें।

किशोरों के निर्माण में शिक्षा-दीक्षा का अपरिहार्य महत्त्व है। सभ्य और सुशील होने पर भी बालक मृगछौने जैसे भोले होने पर भी अबोध पशु ही रह जाएगें। अशिक्षित विनम्र को भी पूरी तरह सभ्य नहीं कहा जा सकता। शिक्षा, सभ्यता तथा नागरिकता की आधारशिला है। इसलिए बच्चों का पढ़ाया जाना भी बहुत आवश्यक

है। विद्याध्यन के विषय में किशोरावस्था में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इस अवस्था में यदि उन्हें विद्या के प्रति उदासीनता से विरत कर शिक्षा की ओर विशेष तौर पर उन्मुख कर दिया जाता है, तो वे स्कूली शिक्षा समाप्त करने के बाद भी अध्ययनशील बने रहते हैं। बाल्यकाल से लेकर किशोरावस्था तक ही शिक्षा के संस्कार डालने के लिए सबसे उपयुक्त आयु है। इस समय बालकों की बुद्धि बड़ी ही कोमल तथा ग्रहणशील होती है। इस समय वे थोड़े से ही अभ्यास से बहुत कुछ ग्रहण कर लेते हैं। आगे चलकर उनकी बुद्धि विकसित होने के साथ-साथ प्रौढ़ भी हो जाती है जिससे जल्दी पाठ ग्रहण नहीं कर पाती। सयाने हो जाने पर उन्हें पढ़ने में कुछ शर्म भी लगती है और उन का उद्दण्ड मन पढ़ने में लगता भी नहीं! इसलिए बाल्यकाल से लेकर किशोरावस्था तक बच्चों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

प्रचुर सम्पत्ति का स्वामी होने पर भी शिक्षा शून्य मनुष्य समाज में अधिक आदर नहीं पाता, उसका क्षेत्र अपने जैसे अशिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित हो जाता है। वह समाज के बुद्धिवादी लोगों के बीच घुल मिल नहीं सकता। उसका परिचय संसार की गतिविधियों से नहीं हो पाता। वह अपने व्यापार व्यवसाय तक ही कूप मंडूक बना रहता है। कूप मंडूकता से स्वार्थ एवं संकीर्णता का प्रादुर्भाव होता है। तब ऐसी दशा में किसी से अच्छे नागरिक बनने की आशा करना उचित नहीं कहा जा सकता। अशिक्षित धनवान अपने धन का उचित उपयोग नहीं कर पाता। या तो वह बहुधा कृपण हो जाता है अथवा अपव्ययी। यह दोनों अवस्थाएँ किसी अच्छे नागरिक के उपयुक्त नहीं कहीं जा सकतीं। अच्छा नागरिक बनकर अपने अधिकार तथा कर्त्तव्यों को ठीक से समझने तथा उपयोग करने के लिए शिक्षा की बहुत बड़ी आवश्यकता है। किसी भी अभिभावक को अपने बालकों को अशिक्षित नहीं रखना चाहिए। उन्हें हर अवस्था, हर दशा तथा हर परिस्थिति में शिक्षा दिलानी ही चाहिए।

धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत बालकों को शिष्टता, उदारता, श्रमशीलता, सदाशयता, स्वच्छता आदि के नियमों का अभ्यास करा देना तथा सत्य, शिष्ट, विनय, मधुर एवं प्रसन्न व्यवहार का अभ्यस्त बना देना ही आवश्यक होगा। प्रातः जागरण, भ्रमण, व्यायाम, शुद्ध सात्विक भोजन, स्नान, संयम, निवास तथा वस्त्रों की सादगी स्वच्छता तथा मनोयोग से अध्ययनशील की प्रवृत्ति पैदा कर देना बच्चों को धार्मिक शिक्षा दिया जाना है। प्रकृति से प्रेम और ईश्वर पर आस्था उनके लिए ब्रह्मविद्या की तरह ही लाभकारी होगी। माता, पिता, भाई-बहनों, गुरुजनों, साथियों से तथा अन्य सर्व साधारण से उन्हें किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इसका ज्ञान करा देने का अर्थ होगा कि आपने उन्हें मानो योग साधना की शिक्षा दे दी।

किशोरों के लिए घर का वातावरण, शिक्षा तथा धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करने वाले अभिभावक अवश्य ही समाज को सभ्य एवं सुशील नागरिक प्रदान करके श्रेष्ठ सौभाग्य के भागी बनेंगे।



बच्चों की उपेक्षा न कीजिए

बहुत से बच्चे बड़े शर्मीले, डरे-डरे और खामोश रहा करते हैं, न किसी से कोई बात करते हैं और न जी खोलकर हँसते खेलते हैं। घर पर भी चुपचाप एक कोने में दुबके रहते हैं। जहाँ बच्चे खेलते होते हैं वहाँ भी चुपचाप एक तरफ खड़े-खड़े देखा करते हैं। यदि उन्हें पास बुलाओ या बात करो तो खामोश खोई-खोई नजर से देखते रहेंगे, न कोई जवाब देंगें और न पास आयेंगे। ज्यादा कोई बात उनसे पूछी जाए तो रोने लगेंगे।

निःसन्देह, इस स्वभाव के बच्चे, बड़े करुणास्पद होते हैं, उनको देखकर बड़ी दया लगती है। हँसने, खेलने, बोलने और बात

करने वाले बच्चे सबको भाते हैं। लेकिन गुमसुम रहने वाले बच्चे दया के पात्र होते हैं। बच्चे स्वभावतः चंचल और बातूनी हुआ करते हैं। आप एक बार उनसे बात करिए वे बीस बार आपसे बात करेंगे। आप थोड़ा परिचय कीजिए वे उस परिचय को घनिष्ठ बना लेंगे। उन्हे थोड़ा सा प्यार दीजिए, वे मित्र बन जाएँगे और आपको देखकर तत्काल प्रसन्न होने लगेंगे। फिर क्या बात है कि अपनी सहज प्रकृति के विपरीत बहुत से बच्चे चुपचाप खोए-खोए और डरे-डरे से रहते हैं?

बच्चों की इस अस्वाभाविक प्रवृत्ति के जहाँ और भी बहुत से कारण हो सकते हैं, वहाँ एक विशेष कारण, माता-पिता द्वारा उनकी उपेक्षा एक इतना बड़ा अभिशाप है कि जिसके साथ यह बरता जाता है उसको दयनीय बना देता है। यदि किसी जड़ वस्तु की भी उपेक्षा की जाती है तो वह भी अपना स्वाभाविक सौन्दर्य खो देती है, फिर बच्चे तो सप्राण और कोमल होते हैं। उनके मन मस्तिष्क पर हर बात का प्रभाव पड़ता है और वे उसका दुःख सुख भी अनुभव करते हैं। अस्तु, बच्चों के सहज विकास और उनके सहज सौन्दर्य को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है कि उनकी किसी भाँति उपेक्षा न की जाये। उन्हें माता-पिता और अभिभावकों का समुचित प्यार मिलना चाहिए। बच्चों के जो अन्य नैतिक अधिकार होते हैं, वे भी उन्हें प्राप्त होने चाहिए। जो अभिभावक, बच्चों को समुचित प्यार नहीं देते या उनकी बात बात पर उपेक्षा किया करते हैं, वे अन्दर से कठोर स्वभाव के होते हैं। उनके बच्चों का वांछित विकास नहीं हो पाता और वे समाज में अनुपयोगी व पिछड़े हुए रह जाते हैं। न खुलकर हँस बोल पाते हैं और न पैर जमाकर किसी क्षेत्र में डट पाते हैं। वे प्रत्येक से डरे डरे और शर्माए से रहा करते हैं।

बहुत से अभिभावक अपने तक इतने सीमित होते हैं कि उन्हें बच्चों की ओर ध्यान देना बोझ लगता है। बच्चे उन्हें पुकारते रहते है, वे सुनते ही नहीं। वे कुछ बात पूछते हैं उसका उत्तर ही नहीं

देते। यदि ज्यादा बोलते या पुकारते हैं तो रुखाई से पेश आते हैं, वे प्यार और स्नेह के लोभ से पास आते हैं तो भगा देते हैं। अभिभावकों का यह स्वभाव अच्छा नहीं होता है। यह बात सही है कि उनकी अपनी कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं जो उनको और परेशान किए रख सकती हैं। इसका यह मतलब कभी नहीं है कि अपनी समस्याओं में इस सीमा तक खोया रहा जाए कि बच्चे उनके स्नेह अथवा देखरेख से वंचित हो जाएँ। ऐसा होने से धीरे-धीरे बच्चे अभिभावकों से बात करना, उनके पास जाना अपना दु:ख सुख कहना छोड़ देते हैं। वे अपने को अकेला और असहाय समझ कर अन्दर घुटते रहते हैं जिससे उनके अन्दर ही अन्दर एक कुंठा पैदा हो जाती है जो उन्हें खामोश और भयभीत बना देती है।

बहुत से अभिभावक खाते पीते समय बच्चों को पास नहीं आने देते और उन्हें पहले खिला दिया जाता है। इससे बच्चे उनके साथ भोजन करने के सुख और गौरव से वंचित रह जाते हैं। साथ ही वे ठीक से अलग से खाना पाकर जिस तरह से खा-पी पाते हैं, खाते-पीते हैं और अकेलेपन के भाव से मन ही मन दुखी रहते हैं।

जो बच्चे घरों में होते हुए भी साथ में नहीं खिलाए जाते वे चुपचाप किसी कोने में खड़े अभिभावकों को खाते देखा करते हैं और कोई जरूरत होने पर भी डर से पास नहीं जाते। ऐसे बच्चों के मन में बहिष्कृत किए जाने का भाव पैदा हो जाता है और वे मन ही मन बड़े दीन-हीन हो जाते हैं।

खाने पीने की तरह उनके पहनने, ओढ़ने, पढ़ने, लिखने, कापी किताबों, स्कूल आने-जाने आदि अन्य बातों पर भी ध्यान नहीं देते। उनके कपड़े गन्दे हैं, कमीज या कोट में बटन नहीं है, पायजामा ठीक नहीं बंधा है, आस्तीन खुली हैं, कापी खत्म हो गई हैं, किताब खो गई हैं, पेंसिल चाहिए ही निब या रोशनाई नहीं है— इनमें से किसी बात का पता उन्हें नहीं रहता। पता रहे भी कैसे, स्वयं देखेंगे नहीं, कहने पर ध्यान नहीं देंगे।

ऐसी दशा में बच्चे निहायत ही गन्दे, अस्त-व्यस्त और अपनी ओर से निरपेक्ष हो जाते हैं। वे आवश्यकता पूरी करने के लिए या तो किसी से चीजें माँगेंगे या चुराएँगे। वे किताब से कापी और कापी से निब बदलेंगे। चीजों की कमी के कारण हर समय अध्यापक से डरते रहेंगे। पढ़ने में उनका जी नहीं लगेगा और कक्षा से भागे रहने का प्रयत्न करेंगे।

जिन बच्चों का ध्यान अभिभावक नहीं रखते उनकी परवाह अन्य लोग भी नहीं करते। अध्यापक उनकी चिन्ता नहीं करते और साथी उपहास किया करते हैं। घर में अभिभावकों की उदासीनता और बाहर दूसरों की उपेक्षा उन्हें बहुत ही दयनीय दशा में पहुँचा देती है।

उपेक्षित बच्चों के चेहरे पर एक ऐसी उदासी रहती है जिसे देखकर न उनसे कोई बात करना पसन्द करता है और न प्यार करना। वे जहाँ भी जाते हैं, उपेक्षित ही रहते हैं।

बच्चे जब तक पूरी तरह समझदार और अपनी परवाह आप करने योग्य न हो जाएँ अभिभावकों को उनकी हर बात का ध्यान रखना चाहिए। उन्हें उनका प्यार मिलना चाहिए। आवश्यक निर्देश और प्रशिक्षण मिलना चाहिए और जरूरतों की पूर्ति होनी चाहिए।

उन्हें ठीक समय पर जगाना, नहलाना, धुलाना, नाश्ता, भोजन आदि सारी बातों में सहायता की जानी चाहिए। अपने साथ यदि न भी खिलाया जाने का अवसर हो तो अवश्य ही उनके खाते वक्त माता अथवा अन्य किसी बड़े का साथ रहना आवश्यक है, जिससे प्रेम पूर्वक वे ठीक से भोजन करना सीख सकें और अपने को बहिष्कृत सा न समझा करें। स्कूल जाने की तैयारी में उनका हाथ बंटाना चाहिए। यह देखना चाहिए कि उनके कपड़े गन्दे तो नहीं हैं, बटन ठीक से लगे हैं, पहनने में कोई अस्तव्यस्तता तो नहीं है। उनका बस्ता ठीक है, कापी किताबें खो तो नहीं गई हैं, खरिया या रोशनाई मँगानी तो नहीं या कलम की निब टूटी तो नहीं है।

इस तरह ये बातें तो इतनी मालूम होती हैं कि जैसे घण्टों बच्चों के साथ लगा रहना पड़ेगा किन्तु ऐसा नहीं है। यदि एक बार

सब बातों की व्यवस्था ठीक से करदी जाए और नित्य नियम से इन पर नजर डाल ली जाए तो यह दस पाँच मिनट से अधिक का काम नहीं है और बच्चों को दस पाँच मिनट या घंटा आध घण्टा देना कोई निरर्थक बात नहीं है। कदाचित् गृहस्थ जीवन में बच्चों की देख-रेख और ठीक से उनका निर्माण करने के लिए दिया जाने वाला समय सबसे अधिक सार्थक होता है। क्योंकि बच्चे के बनाने का अर्थ है एक सुदृढ़ पारिवारिक धुरी और अच्छे समाज का निर्माण करना।

जिन बच्चों को माता-पिता का समुचित प्यार मिलता है, उनका हर दिशा में समुचित विकास भी होता है। माता-पिता की परवाह से वे स्वयं भी अपनी परवाह करना सीख जाते हैं। ठीक से रहना, बोलना, बात करना, चलना-फिरना और व्यवहार करना आ जाने से बच्चे बड़े होकर समाज के सुन्दर घटक बनते हैं और इसके विपरीत जो बच्चे उपेक्षा अथवा उदासीनता के शिकार होते हैं उनके सारे समुचित विकास रुक जाते हैं, वे निहायत निकम्मे, निराश और निरर्थक बन जाते हैं। उनमें एक ऐसी दयनीयता घर कर लेती है कि वे जीवन भर परमुखापेक्षी बनकर कोई उन्नति नहीं कर पाते हैं। जो अपनी और अपनी चीजों की परवाह करना नहीं जानते उनसे यह आशा करना कि दूसरों की परवाह कर सकेंगे, एक व्यर्थ विडम्बना है। वे जहाँ रहेंगे, अस्त-व्यस्त रहेंगे, जहाँ काम करेंगे, लापरवाही बरतेंगे, वे बातों में विशृंखल और व्यवहार में ऊटपटाँग हो जाएँगे। उनके जीवन में एक ऐसी अनुशासनहीनता आ जाएगी जिससे वे और तो और अपने लिए भी उलझन बन जाएँगे।

किसी भी बच्चे को चाहे जितना अच्छा भोजन, कपड़े और अच्छी-अच्छी चीजें क्यों न दी जाएँ, किन्तु तब तक उनका उपयोग उसके लिए सार्थक न होगा, जब तक इन सब बातों के साथ उसे अभिभावकों का प्यार नहीं मिलता। न उसका स्वास्थ्य बन पाएगा और न वे ठीक पहनना-ओढ़ना या रहना-सहना सीख पाएँगे।

बच्चों के प्रति माता-पिता का समुचित प्यार और उनकी परवाह किया जाना बहुत से अभावों को यों ही पूरा कर देता है।

बच्चों को प्यार से सूखी रोटी भी खिलाई जावेगी तो भी वह उनके स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होगी। उनके मुख पर एक तेज और हृदय में एक संतोष रहेगा। उनको पहनाया हुआ मोटा और सस्ता कपड़ा भी उनकी शोभा बढ़ा देगा। प्यार एक ऐसे रसायन के समान है जिसको पाकर बच्चे न केवल सन्तुष्ट ही रहते अपितु परिपुष्ट भी होते हैं। बहुत बार देखा जा सकता है कि प्यार और परवाह से वंचित धनवान् घरों के बच्चों का स्वास्थ्य और सौन्दर्य उतना आकर्षक नहीं होता जितना प्यार पाए हुए निर्धन घरों के बच्चों का। धनवान् घरों के बच्चे बहुत अच्छा पहनने ओढ़ने पर भी उतने अच्छे नहीं लगते जितने कि मोटे कपड़ों में निर्धन घरों के बच्चे।

जो बच्चे अभिभावकों के प्रेम से परिपुष्ट रहते हैं उनका किसी अभाव में भी कोई विकास रुकने नहीं पाता। वे शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक तीनों दिशाओं में स्वच्छन्दता से बढ़ते जाते हैं। वे प्रसन्नता से स्कूल जाते हैं। जो लगातार पढ़ते हैं और सबके साथ स्नेह पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं, उन्हें सभी चाहते और प्यार करते हैं। किन्तु जो बच्चे सभी अभिभावकों के स्नेह से वंचित रहते हैं उनके मन में एक क्षोभ, असन्तोष और चिंता रहा करती है। न पढ़ाई में उनका मन लगता है और न साथियों से पटरी बैठती है। वे हर समय खिसियाए और झल्लाए रहते हैं, जिससे बात-बात पर चिढ़ते और झगड़ते हैं। मन में एक शून्यता रहने से उनके मस्तिष्क में भी एक तनाव रहता है जिससे उनकी एकाग्रता और स्मरण शक्ति का ह्रास हो जाता है। न तो पढ़ाया हुआ पाठ उनकी समझ में आता है और न वे उसे याद कर पाते हैं। उनकी यह कमी केवल पाठों तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि जीवन के प्रत्येक पग पर बाधक होती है।

अस्तु, बच्चों को एक अच्छा नागरिक और सफल गृहस्थ बनाने के लिए प्यार और परवाह के साथ उनका पालन किया जाना चाहिए। बच्चों का केवल होना ही होना नहीं, बल्कि उनका होना ठीक अर्थों में तभी है जब वे एक अच्छे मनुष्य, सफल गृहस्थ और सुशील नागरिक बन सकें।

अनुपयोगी एवं अनुपयुक्त जनसंख्या की वृद्धि कोई प्रशंसनीय बात नहीं है। एक सुशील एवं सफल सन्तान अयोग्य सौ सन्तानों से कहीं बढ़कर है। जो अभिभावक अपने बच्चों को उत्तरदायित्वपूर्ण परवाह से नहीं पालते वे राष्ट्र का हित तो दूर, अहित ही करते हैं और यदि राष्ट्रीयता को दूर की बात मान कर व्यक्तिगत बात ही ले ली जावे तब भी अस्त व्यस्त, अदक्ष एवं अनुशासन हीन बच्चे क्या अपना भला कर पाएँगे और क्या अपने माता पिता का? यदि अनुपयुक्तता से हानि न होती तो आज समाज और संसार में दीखने वाली दुःखद बुराइयों की वृद्धि न होती और अधिक सन्तानों वाले अभिभावक अधिक दुखी न दीख कर अधिक से अधिक सुखी दीखते।



बाल अपराध की चिन्ताजनक स्थिति

दिनों दिन बढ़ते हुए बाल अपराध हमारे सामाजिक जीवन के लिए एक चुनौती है। छोटे-छोटे बच्चों में अपराधी प्रवृत्तियाँ संसार के सभी देशों में एक गम्भीर समस्या बन गई है। कुछ दिनों पहले समाचार पत्रों में एक खबर प्रकाशित हुई थी जिसके अनुसार ब्रिटेन के कलेक्टन नामक स्थान पर एक हजार से अधिक ब्रिटिश किशोरों ने हमला बोल दिया। उन्होंने कारें नष्ट कर दीं, लोगों को मारा पीटा, दूकान और क्लबों में घुसकर सम्पत्ति को भारी नुकसान पहुँचाया, राह चलने वालों को धक्का देकर गिरा दिया। नगर में जो छुट्टी मनाने आया उसके साथ उन्होंने दुर्व्यवहार किया। शराब, तम्बाकू आदि की चोरी की। दो दिन तक सारे नगर में उत्पात मचाये रक्खा। पुलिस के आने पर दिन निकलते-निकलते वे शहर से भाग गए।

यह समाचार तो बाल अपराधों का एक बढ़ा हुआ रूप है। किन्तु बच्चों के जीवन में दैनिक व्यवहार की छोटी-छोटी बातों से ही

अपराध की जड़ें जमती हैं। बहुत से बच्चे घर से स्कूल का नाम करके जाते हैं किन्तु वहाँ अनुपस्थिति लगती रहती है और ये अपने दूसरे साथियों के साथ खेलते हैं। कई तो स्कूल में छुट्टी की अर्जी दे देते हैं। घर के सोचते हैं बच्चा पढ़ने गया है लेकिन वह खेलकूद के लिए घर से जाता है यह वे बहुत समय तक नहीं जान पाते।

फीस के पैसों की चाट पकौड़ी उड़ाई जाती है। बहुत से बच्चे सिनेमा खेल तमाशे, पतङ्गबाजी आदि में पैसा उड़ा देते हैं। जब पैसे की और जरूरत पड़ती है तो मित्रों से पूरा कर लेते हैं फिर घर में चोरी करने लगते हैं। ये ही बच्चे आगे चलकर जेब काटते हैं। सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाते हैं।

बहुत से बच्चों में अपने साथी, छोटे भाई बहन आदि को मारने पीटने की आदत पड़ जाती है। लेकिन यही प्रवृत्ति आगे नृसंश हत्या, मार-पीट, छुरा भोंकने, जैसी बुराइयों में बदल जाती है। एक लम्बे अभ्यास के बाद उसका ऐसा स्वभाव बन जाता है कि दूसरों को मारने-पीटने, पीड़ित करने में उन्हें आनन्द आने लगता है। वे अकारण ही इस तरह की हरकतें करने लगते हैं। चौदह वर्षीय एक लड़के ने आठ वर्षीय एक लड़के को पेड़ से लटका कर मार दिया। पूछने पर उसने बताया "मेरे मन में ऐसी ही तरङ्ग उठी थी।"

अमेरिका में सेंक्रामेंटों नामक स्थान पर चौदह वर्ष के एक लड़के ने दस वर्षीय एक लड़की को हथौड़े की चोट से मार दिया, इसलिए कि "किसी को मार देने की उसकी इच्छा तीव्र हो उठी थी।" एक पन्द्रह वर्षीय किशोर ने एक लड़की को छुरा भौंक कर मार डाला। लड़की जब तड़पते हुए प्राण त्याग रही थी तब लड़का बड़ा प्रसन्न हो रहा था। पूछने पर उसने बताया कि "बहुत दिनों से किसी को छुरा भोंक देने की मेरी इच्छा प्रबल हो रही थी।" इस तरह के अनेकों उदाहरण हमारे सामने आया करते हैं जिसमें लड़के लड़कियाँ बिना मतलब ही अपने साथियों को दूसरे बच्चों को मारते-पीटते हैं। उक्त नृशंस घटनाओं की शुरुआत प्रारम्भ में मामूली मार-पीट से ही होती है।

माता-पिता, अभिभावकगण, अध्यापकों की आज्ञा न मानना, उन्हें परेशान करना, दुर्वचन कहना, उन्हें दुःखी पीड़ित देखने में प्रसन्नता का अनुभव करने की प्रवृत्तियाँ भी बच्चों में दिनों दिन बढ़ती जा रही हैं। छोटे-छोटे बच्चों तक में ये प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं और ये ही आगे चलकर उनका अपमान करने, लड़ने-झगड़ने यहाँ तक कि हत्या तक कर देने में बदल जाती है।

समाज में फैले हुए यौन अपराध, बलात्कार, अपहरण आदि की प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ बचपन से ही शुरू होती हैं। छोटे-छोटे बच्चों में भी कामुक प्रवृत्तियाँ सहज ही देखी जा सकती हैं। अभिभावकों को पता भी नहीं चलता है कि बच्चों में यौन भावनाएँ जाग्रत हो जाती हैं और उन्हें शान्त करने के लिए वे तरह-तरह के गलत मार्ग अपनाते हैं। बचपन से ही कामुक रोगों से पीड़ित हो जाने वाले बच्चों के दूषित जीवन की सहज ही कल्पना की जा सकती है, जब ये समाज में भयंकर यौन अपराधों को जन्म देते हैं।

इनके अतिरिक्त बाल-जीवन में बढ़ती जा रही हिंसा, क्रूरता, गुण्डागर्दी, नशेबाजी, आवारापन मानव-समाज के लिए एक गम्भीर समस्या है। बाल अपराध इस तरह बढ़ रहे हैं कि उनका अनुमान कर सकना मुश्किल है। विभिन्न देशों में बाल अपराधों के लिए सर्वेक्षण होता रहता है किन्तु कहीं की भी रिपोर्ट पूर्ण नहीं है। वस्तुतः बच्चों के जीवन में अधिक हाथ रखने वाले माँ-बाप अभिभावक गण ही जब इन्हें नहीं जान पाते तो बेचारी सरकार क्या जानेगी। वह तो इनेगिने जो प्रकट हो चुके हैं उन्हीं तथ्यों का पता लगा पाती है। फिर भी जो आँकड़े मिले हैं वे सनसनी खेज हैं। उत्तर प्रदेश में सन् १९५८ में एक सर्वे के अनुसार कुल कैदी २४२९४३ थे जिनमें बाल-अपराधियों की संख्या २३५९ थी। बम्बई में १३ दिसम्बर १९५८ को दण्डित अपराधी १३१७८ थे जिनमें बाल-अपराधियों की संख्या ८४७ थी। जबकि बम्बई, मद्रास तथा बहुत से राज्यों में

बाल-अपराधियों को जेल में नहीं रखा जाता। वैसे बम्बई में बाल-अपराधी अदालतों और संस्थाओं के सर्वे के अनुसार ३१ मार्च १९५७ को ६८१५ पुरुष बाल-अपराधी तथा २५१४ महिला अपराधी थे। सन् ५८ में यही संख्या बढ़कर क्रमशः ७७९० और २६९९ हो गई।

ये तो वे आँकड़े हैं जो पुलिस की निगाह में आए हैं जिनकी संख्या नगण्य है। किन्तु हमारे दैनिक जीवन में जरा सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो छोटे-छोटे बच्चों के आचार-विचार, रहन-सहन, बोलचाल, व्यवहार में तरह-तरह की बुराइयाँ घर करती आ रही हैं, जो हमारी भावी पीढ़ी की स्थिति को सूचित करती हैं।

बाल-अपराधों के विदेशी आँकड़े भी इस सम्बन्ध में आँखें खोल देने वाले हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में श्री मोंटगोमरी हाइड के अनुसार प्रति वर्ष १० लाख बाल-अपराधी होते हैं जो वहाँ कुल अपराधों की आधी संख्या है। एक रिपोर्ट के अनुसार ब्रिटेन में सन् १९४८-५६ के बीच में १४ से १६ वर्ष के बच्चों में शराब पीकर उन्मत्त हो जाने का अपराध ८ गुना बढ़ गया और १७ से २० वर्ष के युवक युवतियों में चौगुना। इसी तरह हिंसात्मक बाल-अपराधों की संख्या दुगुनी-तिगुनी तक हो गई। इसी तरह अनैतिक यौन अपराधों की संख्या भी बहुत बढ़ गई है।

एक रिपोर्ट के अनुसार सन् १९५८ में न्यूयार्क के ९०० स्कूलों में से सितम्बर अक्टूबर माह में ५४४ लफंगे विद्यार्थियों को निकाला जो इस तरह के उद्दण्ड छात्र-छात्राओं की संख्या का केवल एक प्रतिशत ही था। रूस में भी क्रान्ति के बाद बाल-अपराधों की संख्या काफी बढ़ी है।

इस तरह मानव समाज में बाल-अपराध एक बहुत बड़ी समस्या बन गई है। इससे हमारी समाज व्यवस्था ही सदोष नहीं बनती, उल्टे आने वाली योग्य और उत्तरदायी पीढ़ी का भी भविष्य अँधेरे में पड़ गया है। अपराधों की छूत बच्चों में बड़ी जल्दी लगती

है। जाने अनजाने एक को देखकर दूसरा बालक भी वैसा ही गलत आचरण करने लगता है। बच्चों की ग्रहणशील वृत्ति होती है। फिर आवश्यकता इस बात की है कि समाज के सभी हितचिन्तकों को, अभिभावकों को इस बुराई की ओर ध्यान देना चाहिए। बच्चों को केवल खिलाने-पिलाने या शिक्षा दिलाने में ही अपना कर्त्तव्य पूरा न समझ कर उन्हें अपराधी जीवन से बचाए रखना, बुराइयों में प्रवृत्त न होने देना भी आवश्यक है। बाल-अपराधों को रोकने में जितना घर वाले सफल हो सकते हैं उतना और कोई नहीं।



बाल अपराध बढ़े, तो राष्ट्र गिर जाएगा

राष्ट्र का भावी विकास और निर्माण आज के व्यक्तियों पर उतना अवलम्बित नहीं है जितना कल की पीढ़ी पर। विशाल स्तर पर चल रहे कार्यक्रमों का आधार स्तम्भ हमारे बालक हैं जिनके लिए अनेक योजनाएँ बनाते हुए चले जा रहे हैं। जिस आधार स्तम्भ पर यह निर्माण कार्य चल रहा है वही विशृंखलित, अस्त-व्यस्त और कमजोर हुआ तो ऐसी हजार योजनाएँ बनें लाभ कुछ न होगा, राष्ट्र उठेगा और उठकर गिर जाएगा। निर्माण का भवन बनेगा और बनकर धराशायी हो जाएगा।

जंगलों के बीच बसे हुए गाँवों से लेकर शहर के विद्यार्थियों तक उद्दण्डता, उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता आज बिल्कुल सामान्य हो गई है। उनके चरित्र की झाँकी लें तो छुटपन से ही अश्लीलताओं, वासनाओं, दुर्व्यसनों की दुर्गन्ध उड़ती दिखाई देगी। छोटे-छोटे बच्चों को बीड़ी पीते देखकर ऐसा लगता है कि सारा राष्ट्र बीड़ी पी रहा है। युवतियों के पीछे अश्लील शब्द उछलता है तो लगता है सम्पूर्ण राष्ट्र काम-वासना से उद्दीप्त हो रहा है। अपराधी

बालकों ने आज सारे समाज को ही कलंकित करके रख दिया है।

न अभिभावकों के प्रति सम्मान और श्रद्धा और न समवयस्कों से प्रेम और सहयोग। अध्यापक और बाजार में बैठे दुकानदार उनके लिए एक समान हैं। कुछ शेष रहा है तो फैशन, सिनेमा, ताश, चौपड़ और मटरगस्ती।

बाल अपराध के आँकड़े उठाकर देखते हुए हाथ काँपते हैं, कलेजा मुँह को आता है। सन् १९५८ में यह संख्या १५ हजार थी जबकि इनसे कई गुने प्रकाश में नहीं आए हुए होंगे। सन् १९६१ में यह संख्या बढ़कर ३३ हजार तक पहुँची और विगत चार वर्षों में भी इसी क्रम से अपराध हुए होंगे तो अब यह संख्या ५४ हजार होनी चाहिए। इस दिशा में सरकारी और गैर सरकारी तौर पर प्रयास भी किए गये किन्तु लाभ कुछ न निकला, समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती और उलझती ही गई।

परिपक्व व्यक्ति की मानसिक स्थिति का अनुमान करना आसान होता है अतः उन्हें दण्ड से भी, शिक्षा से भी सुधारा जा सकता है, किन्तु बाल अपराधों का सही कारण ज्ञात करना भी कठिन कार्य है इसलिए यह समस्या अधिक दुरूह और गम्भीर हो रही है।

हम इस समस्या का अध्ययन प्रारम्भिक स्थिति से करते हैं और बालकों के अपराध का दोषी उनके माता-पिता तथा परिवार वालों को मानते हैं। यों तो समाज-प्रवेश के बाद बालक अपनी गतिविधियों का निर्माण दूसरों को देखकर भी करता है पर यह उसकी रुचि के अनुरूप होता है और अच्छी या बुरी, विकासशील या अधोगामी रुचि की उत्पत्ति का मूल केन्द्र बालक के माता-पिता ही होते हैं। सच कहा जाए तो माता-पिता की महत्त्वाकांक्षायें ही बालक की बनकर उभरती हैं और इन्हीं से उनके चरित्र का विकास होता है। 'बर्ट' तथा 'टैपन' आदि प्रमुख पाश्चात्य बाल-अपराध शास्त्रियों ने भी इस बात की पुष्टि की है कि बालक के शारीरिक व

मानसिक दोष वंशानुगत होते हैं, इन्हीं का आश्रय लेकर वह अपराधों की ओर प्रवृत्त होता है। वातावरण केवल साहस पैदा करता है। पास-पड़ोस, स्कूल, मित्र, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ सहयोग तो देती हैं किन्तु अपराधों का मूल कारण उनके परिवार वालों का रहन-सहन और उनकी आदतें ही होती हैं।

उदाहरण के तौर पर जिन घरों के लोग बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग या शराब पीते हैं उनके बालक भी इनमें से कोई नशा करना सीख जाते हैं। जिन घरों में मांस पकाया जाता है उन्हीं घरों के बच्चे माँस खाते हैं, ऐसा बहुत कम होता है माता-पिता शाकाहारी हों और बच्चे माँसाहारी हो जाएँ। अवगुण अधिकाँशतः वंश परम्परा से ही विकसित होते हैं।

परिवार की निर्धनता जैसी कमियाँ, बुरे लोगों का संग, अवांछित पड़ोस, नैतिकता को गिराने वाली सिनेमा जैसी प्रवृत्तियाँ, स्कूल के अविवेक पूर्ण वातावरण आदि से भी बालक की मानसिक स्थिति का संगठन होता है। किन्तु यदि माता-पिता पूर्व में बालकों में अधिक शक्तिशाली संस्कार भर सकें तो बाहरी परिस्थितियाँ उतना प्रभाव नहीं डाल सकतीं और बच्चा बुराइयों से अधिकाँश बचा रह सकता है।

इस सम्बन्ध में कुछ उपयोगी सुझाव हैं जिन्हें प्रयोग में लाया जा सकता है और उससे बालकों का चरित्रबल और मनोबल बढ़ाया जा सकता है।

जो लोग बालक की उपस्थिति में कैसा भी उचित-अनुचित कार्य किया जाना गलत नहीं समझते, वे भूल करते हैं। उनकी यह आम धारणा होती है कि बालक अज्ञान होता है, कुछ जानता नहीं पर वस्तुस्थिति इससे बिलकुल विपरीत होती है। बालक सबसे चतुर विद्यार्थी, संवेदनशील एवं ग्रहणशील बुद्धि वाला होता है। वह माता-पिता की प्रत्येक हरकत को बड़े गौर से देखता है कि वे क्या कर रहे हैं और फिर स्वयं भी वैसी ही चेष्टाएँ दिखाता है। कभी-कभी वह

प्रारम्भ में वैसी ग्रन्थि बन जाती है जो अवस्था के साथ विकसित होकर स्वभाव में परिवर्तित हो जाती है।

अपने घर से भेद-भाव की मंथरा को दूर रखें अन्यथा वह राम और भरत का संग्राम उठा देगी। एक बच्चे को अधिक प्यार दूसरे को कम। पढ़ने वाले बच्चे को अच्छे कपड़े और जो घर में रहता है उसे कम अच्छे कपड़े—आप इस बात से सावधान रहें। बच्चे आप से पूरा न्याय चाहते हैं। उन्हें समानता न देंगे तो उनकी विग्रह-बुद्धि बढ़ेगी और अपराधों की दिशा में अग्रसर करेगी।

अपने व्यवहार से बच्चे को सांवेदिक असुरक्षा का शिकार न बनाइए। आपके दुर्व्यवहार से, कटुता से, छल से तंग आकर कहीं ऐसा न हो कि वह विद्रोह खड़ा करदे। अपना जीवन संकट में डाल ले और अपनी मनोवृत्तियों को दूषित बना ले। अनुचित व्यवहार की तरह अनुचित प्यार भी करना बालक के लिए हितकर नहीं होता क्योंकि ऐसा करने से वह अपने आपका विशेष महत्त्व समझने लगता है और जब आर्थिक जीवन में पहुँचने पर उसकी इस क्षेत्र में उपेक्षा की जाने लगती है तो वह विद्रोह कर देता है और समाज के प्रति उसके भी हृदय में उपेक्षा का भाव जाग्रत हो जाता है।

बच्चे के गुण, साहस और शौर्य की प्रशंसा में कृपण मत हूजिए। इन कार्यों में प्रशंसा से उसको आन्तरिक प्रसन्नता होती है और यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह आत्म प्रशंसा के लिए बल प्रयोग के मार्ग का अवलम्बन ले सकता है।

बच्चे पर अविश्वास न कीजिए और उससे कुछ छुपाइए नहीं। अर्थ अनुशासन की उसे शिक्षा मिले यह तो ठीक है पर यदि उसकी पुस्तकों के लिए या फीस के लिए पैसे देने हों तो उसे टोकिए मत, न ऐसा विचार व्यक्त कीजिए कि वह इस पैसे का दुरुपयोग तो न करेगा? बच्चा यदि अपनी स्वाभाविक दुर्बलता के कारण कभी ऐसी गलती कर भी दे तो सुधार का एक तरीका है, कि आप उसे अधिक बड़ी जिम्मेदारी दीजिए। उत्तर दायित्व संभालने

में बालक प्रसन्न भी होते हैं और इससे उनमें कर्मठता भी आती है।

उनसे कुछ छिपाना इसलिए नहीं चाहिए क्योंकि इससे उनके हृदय में भी भेद-भावना उत्पन्न होगी, और मानसिक कटुता बढ़ेगी। मन असंतुलित रहा तो उसके कार्य भी असंतुलित होंगे और उससे बालक का अहित ही होगा।

अपने घर का वातावरण और बालक के प्रति व्यवहार यदि आपने दुरुस्त कर लिया तो यह समझिये कि बालक को आपने ९० प्रतिशत अपराधी प्रवृत्ति से बचा लिया। आज बाल अपराधों में अभिवृद्धि का कारण लोगों की पारिवारिक अव्यवस्था ही है। इसमें सुधार हो जाए तो बालकों के चरित्र का विकास कोई कठिन बात न रह जाए।

शेष १० प्रतिशत अपराधों का कारण समाज की बुराइयाँ होती हैं। बच्चे को बुरे लोगों की बैठक से बचाकर, सिनेमा आदि के स्थान पर साहित्यिक या अन्य कोई रचनात्मक आदत डालकर सुधारा जा सकता है। यह कार्य कोई मुश्किल कार्य नहीं। थोड़ा-सा ध्यान रहे तो बाल अपराध बढ़ें नहीं क्योंकि इनका उत्तरदायी कोई और नहीं होता। अपने उत्तरदायित्व का समुचित पालन न करने से लोग स्वयं ही अपने बालकों को अपराधी बनाते हैं तो सुधार का श्रीगणेश भी अपने आपसे ही किया जाना चाहिए।

बच्चे अपराधी क्यों बनते हैं?

बच्चे अपराधी क्यों बनते हैं इसका कोई एक निश्चित कारण नहीं वरन् उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेकों बातें हैं, जो बच्चों को अपराध की ओर प्रवृत्त करती हैं। बाल अपराधों के लिए समाज का वह सम्पूर्ण ढाँचा ही उत्तरदायी है जिसमें बच्चों का व्यक्तित्व ढलता है। समाज की जैसी हवा बच्चे को लगती है उसका वैसा ही प्रभाव उसके जीवन पर अंकित हो जाता है।

बच्चे का सम्पर्क माता-पिता से होता है। उसमें अपराधी

प्रवृत्ति का बीज बहुत कुछ उसके गर्भस्थ जीवन में ही जम जाता है, जबकि माता-पिता अनैतिक जीवन बिताते हैं। बाल अपराध के अन्वेषक हीली लिखते हैं कि "कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे मालूम होता है कि शराब अथवा किसी अन्य नशे में सम्भोग करने पर पैदा होने वाले बच्चों में पैदायशी अवगुण आ जाते हैं। जिस तरह शरीरगत दोष कोढ़, क्षय आदि बीमारियाँ वंश परम्परागत चलती हैं उसी तरह बच्चों के मानसिक संस्थान की बनावट में भी वंशानुक्रम का बहुत कुछ हाथ होता है। हीली ने एक हजार बाल अपराधियों पर प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला कि ५६ प्रतिशत अपराधी वंश परम्परागत थे। उन्होंने आगे लिखा है—गर्भ काल में माँ का जैसा जीवन-क्रम, मनोभाव होता है उसकी सूक्ष्म छाप बच्चे पर अवश्य पड़ती है। यही कारण है कि गर्भकाल में जिन स्त्रियों में उत्तेजना, क्रोध के आवेश अधिक आते हैं, उनके बच्चों का स्वभाव भी उत्तेजक क्रोधी बन जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत से बच्चों के अपराधी जीवन के पीछे उनके माँ-बाप का चरित्र मुख्य होता है।

पैदा होने के बाद घर वालों के व्यवहार पर बच्चों का जीवन बहुत कुछ निर्भर करता है। कई बार वे अपने अभिभावक, माता-पिता, अध्यापक आदि के कठोर व्यवहार के कारण अपराधी बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में दूसरों को तङ्ग करने में गर्व अनुभव करते हैं जो आगे चलकर उनकी आदत में आ जाता है। ये ही बच्चे अपने छोटे भाई बहन या दूसरे बच्चों को मारने पीटने में सन्तोष अनुभव करते हैं।

बच्चों को सख्ती से दबाने पर या उनकी आलोचना करने पर वे बुराई के प्रति अधिक आग्रही बन जाते हैं। अभिभावकों के कटुवचन भी बच्चे में कितना स्थायी प्रभाव पैदा कर देते हैं इसका उदाहरण हीली ने दिया है। उन्होंने एक ११—१२ वर्ष के बहुत ही सच्चरित्र अच्छे लड़के का जिक्र किया है जो अपने पिता के एक ही वाक्य से बिल्कुल बदल गया। शाम को पिता घर पर आया। उसका

स्वभाव काफी चिड़चिड़ा हो रहा था। उसने देखा बच्चा पढ़ने के समय आराम कर रहा है। पूछने पर दूसरे लड़के ने बताया— "उसकी तबियत खराब है—इसलिए आराम कर रहा है।" पिता ने गुस्से में कहा—"झूठ बोल रहा है। बस इसी बात की प्रतिक्रिया बच्चे पर ऐसी हुई कि उस दिन से उसका जीवन ही बदल गया। उसने कहा—मैं बहानेबाज हूँ, झूठा हूँ। अब ऐसे ही करूँगा।" वह अकर्मण्य, आलसी बन गया। सारे दिन ताश खेलने लगा। पढ़ना-लिखना सब छोड़ दिया।

हीली ने एक अन्य उदाहरण में बताया है कि पिता द्वारा पीट कर घर से बाहर निकाल दिए गए एक बच्चे ने आवारा जीवन बिताना शुरू किया। यह विचारणीय है कि उसे दूसरों को पीटने में, अपमानित करने में अधिक आनन्द आता था।

किसी भी तरह से दुर्बल माँ-बाप जो अपने बच्चों पर भली प्रकार नियन्त्रण नहीं कर पाते उनके बच्चे बिगड़ जाते हैं। अक्सर देखा जाता है कि गूँगे, बहरे, अन्धे, अपाहिज, निर्धन माँ-बाप की सन्तानें प्राय: बिगड़ जाती हैं, क्योंकि वे अपने बच्चों पर भली प्रकार नियन्त्रण और उनका संरक्षण नहीं कर पाते। जो माँ बाप दिन भर अपने काम धन्धे में ही उलझे रहते हैं, बच्चों के जीवन में कोई दिलचस्पी नहीं रखते, उनके बच्चे बहुधा पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। क्योंकि बच्चों में उछल कूद की प्रवृत्ति होती है, जब उसे सही दिशा नहीं मिलती तो वह गलत दिशा में प्रवृत्त हो जाती है। ऐसे नेता, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जो अपने बच्चों के लिए समय नहीं दे पाते, उनके बच्चे भी आवारा बन जाते हैं। आधुनिक युग की औद्योगिक सभ्यता ने जहाँ बच्चों और अभिभावकों के परस्पर सम्पर्क को कम कर दिया है वहाँ बाल अपराधों में भी कम वृद्धि नहीं की है।

माता-पिता के पारस्परिक झगड़े, दुर्व्यवहार के कारण भी बच्चों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। माँ-बाप का कलहपूर्ण जीवन, चारित्रिक दोष, बच्चों को अपराधी बनाने का महत्त्वपूर्ण कारण है।

पारिवारिक उथल-पुथल, कलह, दुर्व्यवहार आदि बच्चों के मानस-संस्थान पर बुरा प्रभाव डालते हैं और गलत मार्ग अपनाते हैं। जिस प्रकार के लोग एक स्थान छोड़कर दूसरा स्थान, एक घर छोड़कर दूसरा घर बदलते रहते हैं उनके बच्चों पर बुरा प्रभाव पड़ता है, उनके जीवन में अस्थिरता आ जाती है। दूसरों के प्रति ममता, मित्रता एवं अपनेपन की भावना नष्ट व शिथिल हो जाती है। इससे उनमें एकाकीपन, स्वार्थपरता एवं उदासीनता की वृत्तियाँ उभर आती हैं।

बहुत से बच्चे निराश होकर तब अपराधी बन जाते हैं जब उनकी अपनी सीमा से बढ़ी हुई महत्त्वाकाँक्षाएँ पूरी नहीं होतीं। प्यार के स्थान पर बच्चों को फटकारना, स्वयं बच्चों के जीवन में दिलचस्पी न लेकर उसे दूसरों पर छोड़ देना, अभिभावकों द्वारा उनके प्रति मनोरंजन, स्नेह का अभाव होना ऐसी कई बातें हैं जिनसे वे अपराधी प्रवृत्तियों में लग जाते हैं। घर ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है और घर के सदस्यों का व्यवहार ही उसका पाठ्यक्रम है। परिवार में जैसी प्रेरणाएँ बच्चे को मिलती हैं वैसा ही वह बन जाता है। बच्चों को बुराई की ओर प्रवृत्त करने तथा अपराधी जीवन बिताने के लिए बुरे साथी और कई सामाजिक बुराइयाँ भी कम उत्तरदायी नहीं हैं। स्मरण रहे बच्चों को गड्ढे में गिराने वाला, पतित करने वाला, अपराधी बनाने वाला, सर्व प्रथम बुरा साथ ही मुख्य होता है। यह साथ पहले घर में ही मिलता है। माता-पिता, रिश्तेदार, भाई-बहन कोई भी हो सकते हैं, जो बच्चों को बुराई की ओर प्रवृत्त करते हैं। सबसे पहले बच्चों को बिगाड़ने के लिए घर में ही बुरा साथ मिलता है, उसके बाद फिर पड़ोस, स्कूल और घर से बाहर। स्मरण रहे कई बुरी आदतों, कामवासना सम्बन्धी बुराइयों का प्रारम्भ प्रायः बुरे साथ से ही होता है।

अभिभावकों को इतना तक ध्यान नहीं रहता कि उनके बच्चे किनके पास उठते-बैठते हैं। किनके साथ खेलते हैं, कितना भी होनहार बालक क्यों न हो बुरे सङ्ग में पड़कर वह भी पतित हो जाता है। बच्चों का ग्रहणशील किन्तु विवेकहीन मस्तिष्क शीघ्र ही

बुराइयों की ओर आकर्षित हो जाता है। बच्चों में बुराइयों की जड़ अधिकतर बुरे साथियों से ही जमती है।

बच्चों को बिगाड़ने में कई सामाजिक बुराइयों का भी काफी महत्त्व है। इनमें गन्दे सिनेमा, दूषित अश्लील साहित्य, गलत सामाजिक मान्यता परम्परायें आदि मुख्य हैं।

सिनेमा का बच्चों की भावनाओं को दूषित कर उन्हें बुराइयों की ओर प्रवृत्त करने में बड़ा हाथ है। मद्रास के एक समाजशास्त्री रामास्वामी अय्यर ने बाल-अपराधियों की जाँच करके अपनी रिपोर्ट में लिखा है—सिनेमा बाल-अपराध का एक बहुत बड़ा कारण है। यहाँ तक कि धार्मिक फिल्मों में भी अश्लीलता, अशिष्टता की बहुतायत होती है। तथाकथित सामाजिक चल चित्र तो और गए बीते होते हैं। फिर इनसे बच्चों में अपराध प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए उक्त समाज शास्त्री ने सुझाव दिया है कि बाल-अपराधों को मिटाने के लिए अन्य उपायों के साथ-साथ चलचित्रों के प्रति काफी कड़ाई बरतनी चाहिए। ऐसी फिल्में जिनमें काम, प्रेम, अश्लील, अर्द्धनग्न, भड़कीली वेश-भूषा हाव-भाव, तड़क-भड़क की प्रधानता होती है, बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव डालती हैं। बच्चे भी वैसा ही करने लगते हैं और इस अभ्यास में उन्हें अपराधी जीवन का मार्ग अपनाना पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश फिल्मों का प्रभाव बच्चों में वासनामय जीवन का सूत्रपात कर देता है।

गन्दे उपन्यास, कहानियाँ, भद्दी तस्वीरें, बच्चों की अपराध प्रवृत्तियों को जगाते है, बुद्धि तथा चरित्र को भ्रष्ट करते हैं। वस्तुतः बच्चों को अपराध की नियमित शिक्षा गन्दे साहित्य से ही मिलती है। ब्रिटेन के अपराध शास्त्रियों ने कुछ दिनों पहले बाल-अपराध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताया है—"सिनेमा में दिखाई जाने वाली हिंसात्मक, क्रूर, अश्लील घटनाएँ बच्चों को अपराधी बनाने के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है।"

हमारे समाज का संकीर्ण दृष्टिकोण जिसके अनुसार कोई

बच्चा तनिक सी गलती कर बैठे तो फिर उसे बुरा मान लिया जाता है। उसके प्रति बुरी धारणा बना ली जाती है और बात-बात में उसे अपमानित किया जाता है, इससे भी बहुत से बच्चे अपराधी जीवन की ओर प्रेरित हो जाते हैं। भूल करना मनुष्य का जन्मजात स्वभाव है। प्रारम्भ की गई गल्तियों को भुलाकर बच्चों के प्रति सौम्य व्यवहार रखने पर वे सुधर सकते हैं।

बहुत से बच्चे अपने आप में अपराधी नहीं होते वरन् एक अपराधी बच्चों के समुदाय की प्रेरणा अथवा दबाव से बुराइयाँ करते हैं। प्रत्येक स्थान पर ऐसे बच्चों का एक समूह अवश्य होता है जो अन्य सीधे-सादे, सरल बच्चों को बहला फुसला कर या धमका कर कुकर्मों के लिए प्रेरित करते हैं।

बहुत-सी शिक्षण संस्थाओं में अध्यापकों के गलत आचरण के कारण भी बच्चों में बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। जो अध्यापक बच्चों के समक्ष धूम्रपान करते हैं, ताश, चौपड़ आदि खेलते हैं, अपने मित्रों के साथ गपशप और अश्लील बात-चीत करते हैं, उनसे बच्चे क्या सीख सकते हैं? इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षकों की नकल करके बच्चे भी वैसा ही करने लगते हैं। बहुत से अध्यापक बच्चे की किसी शारीरिक या मानसिक कमजोरी को महत्त्व देकर उन्हें तिरस्कृत करते हैं, अपशब्द कहते हैं या उनकी उपेक्षा करते हैं परिणाम यह होता है कि बालक के मन में एक तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह गलत कार्यों, बुराइयों में फूट निकलती है। बच्चा स्कूल में केवल अक्षरीय ज्ञान ही प्राप्त नहीं करता वरन् उस चरित्र को भी ग्रहण करता है जो अध्यापकों और अपने सहपाठियों के जीवन से उसे मिलता है। यही कारण है कि बहुत से बच्चे जो प्रारम्भ में बहुत अच्छे ही होते हैं, स्कूल कालेजों में जाने के बाद बिगड़ जाते हैं।



बालकों को अपराधी बनाने वाला अपराधी समाज

किसी भी बालक को अपराधी कहने से पूर्व यह अवश्य सोच लेना चाहिए कि उस अपराध का उत्तरदायी केवल बालक ही है या जिस समाज और वातावरण में वह पला है वह भी इसका जिम्मेदार है।

कोई भी शिशु जन्मतः, स्वभावतः अपराधी नहीं होता, चाहे वह मानव जगत का हो अथवा पशु जगत का। मानव शिशु और पशु शिशु परस्पर गहरे दोस्त हो सकते हैं लेकिन दो सजातीय बालक परस्पर अच्छे सम्बन्ध नहीं बना पाते। निर्दोष बालक को ऐसी विकृति के लिए उत्तरदायी ठहराना प्रौढ़ लोगों का, अभिभावकों का, अध्यापकों का सबसे बड़ा अपराध है।

बिगड़े हुए बच्चे या समस्या मूलक बच्चों का अध्ययन करते समय हमें एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कोई भी शिशु एक विशिष्ट वातावरण में जन्म लेता है और उसे वातावरण की भाषा एवं व्यवहार का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। उस समय वह एक कोरी कापी की तरह होता है। उसे यह भी ज्ञान नहीं कि जिसने उसे जन्म दिया है उसे क्या कहना चाहिए। उसे जो कुछ सिखाया जाता है उसे सीखता है और जो कुछ सीखता है वह वही होता है जिसे वह अपने चारों ओर होते देखता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त पर संगठित राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे वाले समाज में यह बात तो साफ तौर पर प्रकट होती है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से जिस सम्बन्ध सूत्र से जुड़ा होता है, वह स्नेहिल या प्रिय कतई नहीं होता, इसके विपरीत यह सम्बन्ध दुःखदायी और अपमान जनक होता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच आर्थिक खाई इतनी गहरी है कि उसे कोरी भावुकता दिखावटी प्रेम या सम्मान से नहीं भरा जा सकता।

आज की परिस्थिति में एक मजदूर अपने मालिक से प्रेम

नहीं कर सकता, एक क्लर्क अपने 'बॉस' की चापलूसी भर कर सकता है मगर सम्मान नहीं। वह हो भी कैसे सकता है। सच्चे मानवीय व्यवहारों या सम्बन्धों का आदान-प्रदान तो समान स्तर के मनुष्यों में ही हो सकता है। यदि दो मनुष्यों के सम्बन्धों का कारण आर्थिक नहीं तो वही सम्बन्ध मानवीय और सच्चा तो होना ही चाहिए।

इसी आर्थिक अन्तर को समाज की बस्तियाँ, स्कूल और सरकारी संस्थाएँ व्यक्त करती हैं। एक ही शहर की दो बस्तियों में कितना अन्तर होता है? एक ही शहर के दो स्कूलों में कितना अन्तर होता है? एक ही शहर की दो सरकारी संस्थाओं का यह परस्पर संघर्ष और दूरियाँ अभिभावकों को जिस रूप में प्रभावित करती है उसी प्रकार उनके शिशुओं को भी प्रभावित करती है।

एक बालक यह सोचता है कि मैं मजदूर का लड़का हूँ, दूसरा सोचता है मैं मालिक का लड़का हूँ-दोनों एक दूसरे से बातें करने में हिचकिचाते हैं, दोनों एक दूसरे के लिए अजनबी हैं और एक दूसरे से घृणा करने लगते हैं। संशय, घृणा और अजनबीपन की इस प्रवृत्ति को कोई नहीं रोक सकता, जब तक परिवार, समाज और राज्य की दूरियाँ नहीं मिट जाती, शहर और गाँव का फर्क कम नहीं होता। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित ढाँचा निर्मित नहीं कर लिया जाता तब तक स्वस्थ शिशु को स्वस्थ मनुष्य के रूप में विकसित कर पाना असम्भव है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि करने के लिए रात-दिन दस गुना या सौ गुना मुनाफा कमाने के लिए होड़ लगी हुई है। छोटे मझोले पूँजीपति इसमें एक ओर तो मालामाल हो उठते हैं, दूसरी ओर मजदूर 'भूख-भूख' चिल्लाते हैं। कोई हजार-हजार रुपये वेतन पाता है तो लाखों करोड़ों लोग बेरोजगारी का शिकार होकर सड़क पर धूल फाँकते फिरते हैं। कहीं भी किसी तरह का सामंजस्य नहीं रह गया।

ऐसे समाज में शिशु के लिए जो वातावरण मिलता है,

उसकी रूपरेखा कितनी भयावनी और अमानवीय होगी, इसकी कल्पना करना किसी भी अभिभावक के लिए कठिन नहीं होना चाहिए।

बिस्तर भिगो देना यानी शिशु का सोते में मूत्र त्याग कर देना मनोविज्ञान की दृष्टि में एक मनोविकार का संकेत करती है। मनोविज्ञान में जिस तथ्य पर गम्भीरता से विचार किया जाना है, उस पर अभिभावक ध्यान ही नहीं देते ऊपर से मारना-पीटना आम बात है। कटी पतंग के लिए बच्चों के झुण्ड के झुण्ड जिस तरह झपटते हैं उससे उनकी मनोवृत्ति का पता चलता है। उनमें सामूहिक प्रवृत्ति जोर पकड़ती है जो किसी भी समाज के लिए भयङ्कर साबित हो सकती है।

परीक्षाओं में उपयोग की जाने वाली पद्धति, बालकों को परस्पर एक दूसरे का प्रतियोगी बनाने में सहायक होती है। इसमें एक ओर स्पर्द्धा से बच्चे पढ़ते हैं तो दूसरी ओर प्रथम द्वितीय और तृतीय श्रेणियां बन जाने से इन बालकों के जीवन के भविष्य को निर्धारित करना व्यवस्था के दोषों में एक और बड़ा दोष है।

इससे न केवल बालकों में ही परस्पर द्वन्द्व बढ़ता है, बल्कि छात्रों और अध्यापकों के बीच भी तनाव बढ़ता है। तीन घंटों में ही विद्यार्थी को उत्तर पुस्तिका पर अपनी योग्यता दिखानी है जिससे उसकी योग्यता का पूर्ण प्रकाशन नहीं हो पाता। परीक्षा के इन्हीं परिणामों पर जीवन की सफलता और असफलता को निर्भर कर देने से, छात्रों में संशय, घबराहट, नकल करने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती है और कभी कभी इसके इतने भयङ्कर परिणाम निकलते हैं कि अच्छे अङ्क न पाने पर या परीक्षा में असफल हो जाने पर उन्हें आत्म-हत्या ही करते देखा गया है।

उनके अन्दर यह भावना भर दी जाती है कि इस समाज में फेल हो जाना मृत्यु के बराबर है। अच्छी नौकरी नहीं मिलेगी, सम्मान प्राप्त नहीं होगा, अतः वे आत्मघात या रोकने वाले की हत्या

जैसे बुरे विचारों की ओर प्रेरित होते हैं।

किसी भी बालक को अपराधी कहने से पूर्व यह सोच लेना चाहिए कि वह किसी पवित्र समाज में पैदा नहीं हुआ है। उसके जन्म लेने के पहले ही वातावरण में अपराध के विभिन्न रूप उपस्थित रहे हैं। चोरी के अनेक रूप व्यभिचार के अनेक रूप, बेईमानी, घूसखोरी और वेश्यावृत्ति के अनेक रूप समाज में पहले से ही मौजूद हैं। ये सब बालक के साथ जन्म से ही नहीं आते।

यदि समाज में से बाल अपराधों को मिटाना है तो इस ओर पहले उनके अभिभावकों को बढ़ना चाहिए। जब तक वे स्वयं को नहीं सुधार पाते तब तक बालकों को सुधार पाना असम्भव है। बालक तो बड़ों का प्रतिबिम्ब होता है जैसा बड़ों को करता देखता है उसी की प्रति छवि वह उनको दिखा देता है। इस पर भी अगर बालकों को अपराधी कहा जाता है तो वह समाज को धिक्कारने भर की बात है।



क्या दण्ड से बच्चे सुधरते हैं?

बच्चों को सुधारने, उनमें से बुरी आदतों को छुड़ाने के लिए अन्य बातों की तरह दण्ड देने की भी एक प्रणाली चली आ रही है। सामान्यतया भूलों, गलतियों पर, बच्चों की शैतानी पर अभिभावकगण उन्हें दण्ड देते हैं, पीटते हैं, उनकी आलोचना करते हैं। बच्चों ने कुछ गड़बड़ी की कि उन्हें ठोक-पीट दिया। अच्छे समझदार पढ़े लिखे, माँ बाप भी इसी का सहारा लेते देखे जाते हैं। हाँलाकि दण्ड की व्यवस्था सुधार के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है, नीति ने सुधार के साम, दाम, दण्ड, भेद चार उपायों में दण्ड को भी स्थान दिया है, आवश्यकता पड़ने पर दण्ड दिया भी जाना चाहिए, लेकिन उसका प्रयोग दवा की खुराक की तरह ही किया जाना चाहिए। बिना सोचे

समझे, अनावश्यक मात्रा में दी गई अच्छी दवा भी नुकसान पैदा कर देती है। इसी तरह दण्ड भी बिना सोचे समझे, अनावश्यक रूप से दिए जाने पर अपने दुष्परिणाम पैदा करता है।

दण्ड सुधार के लिए अन्तिम और महत्त्वपूर्ण समर्थ माध्यम है किन्तु इसका ठीक-ठीक प्रयोग न करने पर हानि की ही अधिक संभावना रहती है और कई दुष्परिणाम पैदा हो जाते हैं। अनावश्यक, अव्यवहारिक दण्ड से सुधार न होकर बच्चों के विकास, उन्नति व निर्माण में गड़बड़ी पैदा हो जाती है कई मानसिक विकृतियाँ-बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं।

दण्ड के भय से मनुष्य के सौन्दर्य-बोध की क्षमता, शक्ति नष्ट हो जाती है। बच्चों को बात-बात पर अपने अनन्य और निकटस्थ सूत्र माँ बाप से सजा मिलने लगती है तो संसार और उसके अन्य तत्त्वों का आकर्षण कम होने लगता है। संसार और इसके पदार्थ बच्चे को अरुचिकर, भयानक, क्रूर लगने लगते हैं। बच्चों का मानसिक विकास नहीं होता, वे बड़ी उम्र पाकर भी बच्चों जैसे ही बने रहते हैं।

माँ-बाप के सुधारात्मक दण्ड प्रधान फौजी अनुशासन से बच्चे दण्ड से बचने अथवा भय के कारण झूठ चालाकी का आसरा लेते हैं। जिन बातों अथवा कारणों से बच्चों को सजा मिलती है उन्हें वे छिपाते हैं, झूठ बोल जाते हैं। इस तरह धीरे-धीरे बच्चों में झूठ बोलने, चालाकी, फरेबबाजी की आदतें पड़ जाती हैं जो दिनोंदिन परिपाक होकर जीवन का अङ्ग बन जाती हैं। मानव जीवन और संसार में बहुत बड़े-बड़े दुष्परिणाम, बुराइयाँ पैदा करने वाली इस झूठ, चालाकी, फरेबबाजी की शुरुआत इस रूप में बहुत कुछ घर से ही होती है।

सुधार के लिए अन्य बातों को छोड़कर केवल प्रारम्भ से ही दण्ड का आसरा लेने पर, बच्चों को बार-बार पीटने सजा देने पर बच्चों के सुधार की सम्भावना बहुत कुछ नष्ट हो जाती है, क्योंकि बच्चा भी बार-बार पिटने से दण्ड का आदी हो जाता है। दण्ड एक

समर्थ शक्तिशाली प्रयोग है इसका अवलम्बन तो अन्य सभी बातों में असफल होने पर ही निश्चित मात्रा में करना चाहिए। जिन बैलों को डण्डे मार-मार कर चलाया जाता है वे फिर डण्डे खाने के आदी हो जाते हैं। प्रारम्भ में एक-दो डण्डे खाकर जो तेज दौड़ते थे वे फिर बार-बार डण्डे पड़ने पर भी धीरे-धीरे चलते हैं। अपराध करने वाले कई व्यक्ति तरह-तरह से कई बार सजाएँ पाकर सजा के आदी हो जाते हैं। उन्हें कठोर सजा भी या अधिक दण्ड भी सामान्य-सी बात लगती है। बार-बार सजा पाकर भी वे अपनी अपराध प्रकृति का क्रम चालू रखते हैं। यही बात बच्चों पर भी चालू होती है। बच्चे भी बार-बार मिलने वाले दण्ड के आदी हो जाते हैं। उन पर दण्ड का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

मानव मन की सामान्य स्थितियों में यह विशेषता है कि उसमें दण्ड देने वाले, प्रकट मे अहित करने वाले, आलोचना अपमान करने वाले के प्रति विद्रोही प्रतिक्रिया पैदा हो जाती है। बच्चों के अन्तर्मन में भी दण्ड देने वालों के प्रति विद्रोही प्रतिक्रिया पैदा हो जाती है। बच्चों के अन्तर्मन में भी दण्ड देने वालों के प्रति विद्रोही भावनाएँ उठती हैं। इस विद्रोही भावना के अत्यन्त प्रबल हो जाने पर कई बच्चे अपने अभिभावकों पर आवेशवश घातक आक्रमण कर बैठते हैं और कटु वचन कहते सुने जाते हैं। समर्थ हो जाने पर इस तरह के बच्चे अपने माँ बाप अभिभावकों की कोई परवाह भी नहीं करते उनकी दुर्दशा पीड़ा में भी ऐसे बच्चों का दिल नहीं पिघलता। बचपन के दण्ड और सजा की चोटें खा-खाकर बच्चों का हृदय कठोर, शुष्क, नीरस, भयानक बन जाता है। ऐसे बच्चे कटु शब्दों, व्यंग बाणों से अपने माँ बापों को व्यथा पहुँचाते हैं। अभिभावकगण अपने भाग्य और जमाने को दोष देकर रोते हैं किन्तु वे भूल जाते हैं कि इस क्रूरता और कठोरता की नींव बच्चों में उन्होंने स्वयं ही लगाई है। यह तो उसकी बाह्य प्रतिक्रिया मात्र है।

बच्चों का मानस बहुत ही कोमल संवेदनशील होता है।

जीवन में होने वाली तनिक सी घटना उनके मानस पर चित्रवत् अंकित हो जाती है। छोटी-छोटी बातों से ही उनकी भावनाओं को ठेस लग जाती है। इस पर सजा ताड़ना तो इस तरह प्रभाव डालती है जैसे पत्थर की चोट से काँच का बर्तन क्षत-विक्षत हो जाता है। दण्ड बच्चों की कोमल भावनाओं, हृदय, बाल सुलभ कल्पनाओं को कुचल देता और उन्हें सदा के लिए अयोग्य, अपङ्ग, अनुपजाऊ निष्क्रिय बना देता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि बच्चों को कभी सजा, दण्ड देना ही नहीं चाहिए। नीति शास्त्र के पण्डितों ने ताड़ना भी बच्चों के सुधार के लिए आवश्यक बताई है, किन्तु दण्ड देना एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य नहीं है। किस सीमा तक बच्चों को सजा दी जाए, कैसी सजा कब कैसे दी जाए यह बातें जानना उसी तरह आवश्यक है जैसे किसी डाक्टर का यह जानना कि रोगी को कौन सी दवा कब-कब, कैसे, कितनी दी जाए? दण्ड के कारण उत्पन्न होने वाले उक्त दुष्परिणाम दण्ड नीति का दुरुपयोग करने पर ही मिलते हैं।

सुधार के लिए सर्वप्रथम यह देखा जाना आवश्यक है कि बिना दण्ड के अन्य बातों से सुधार की प्रेरणा दी जा सके तो उत्तम है। बच्चों को सुधारने में स्नेह ममता का बहुत बड़ा स्थान है। एक बार महात्मा गाँधी से बचपन में कोई भारी भूल हो गई, इस पर उनके पिता ने उस भूल को स्वयं ठीक कर लिया। गाँधीजी को देखकर उनकी आँख में केवल आँसू आ गए। इसका ऐसा मूक प्रभाव पड़ा कि फिर गाँधीजी ने कभी वैसा काम नहीं किया जिससे उनके पिता को ठेस लगे—दुःख होवे।

जब बच्चों में अपराध प्रवृत्ति बहुत ही बल पकड़ ले और वह स्नेह सरलता से न सुधरे उल्टा बिगाड़-क्रम ही चालू रहे तो फिर सजा का भी आश्रय लेना आवश्यक होता है। इस पर भी यह देखना आवश्यक है कि उसे शारीरिक सजा देना आवश्यक है या मानसिक। जहाँ तक बने प्रारम्भ में फटकार देने अथवा डरा धमका देने से काम

बन जाए तो ठीक है। इसके अतिरिक्त भूल को सुधारने के लिए उसे खेल या मनोरंजन का रूप देकर बच्चे से ही भूल सुधार कराने का प्रयास करना चाहिए। उदाहरणार्थ बच्चे सामान बिखेर देते हैं तो उन्हीं से उसे ठीक रखाया जाए। बच्चे कुछ तोड़-फोड़ देते हैं तो टूट-फूट से होने वाली हानि को बताते हुए बच्चे को समझाना चाहिए। किसी भी तरह की सजा का आधार रचनात्मक हो दमनात्मक नहीं। चार साल के बच्चे को शारीरिक सजा भी दी जा सकती है किन्तु ७-८ साल बाद तो बच्चों को इस तरह का दण्ड कभी भी नहीं देना चाहिए। इस समय बच्चे का मानसिक विकास काफी हो चुकता है और वह अपने मान-अपमान को समझने लगता है। विद्रोही भावनाएँ, विपरीत प्रतिक्रिया इसी समय पैदा होने लग जाती है।

बच्चों की अच्छाइयों की भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करनी चाहिए। उत्साह बढ़ाने, अच्छे काम करने के लिए पुरष्कार देना बच्चों का विश्वास प्राप्त करना है। इस तरह बच्चों को सुधारात्मक निर्देश देकर उन्हें अच्छा बनाया जा सकता है। भूलों से होने वाली हानि समझाकर उनकी आदतों में आवश्यक सुधार किया जा सकता है। दण्ड सजा तो अन्तिम उपाय है जिसका आवश्यकतानुसार ही उपयोग किया जाना चाहिए।

बच्चों को दण्ड नहीं, दिशाएँ दें

वेल्स के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हबर्ट क्रेशर ने अपने दो बच्चों को अलग अलग रखकर दो प्रकार के प्रयोग किए। एक के पास जाते समय वे अपना स्वभाव मसखरा रखते। अपनी धर्मपत्नी से उसके सामने ही मजाक और अश्लील बातें करते, फूहड़ हाव-भाव प्रदर्शित करते। फलस्वरूप वह बच्चा प्रारम्भ से ही दुश्चरित्र हो गया और उच्च शिक्षा दिलाने के बाद भी वह अच्छा नहीं बन सका।

दूसरे बच्चे के पास जाते समय क्रेशर सदैव विज्ञान की, वैज्ञानिक खोजों की बात करते। वहाँ उनका व्यक्तित्व एक गम्भीर चिन्तक की तरह रहता। फल यह हुआ कि ठीक यही प्रवृत्तियाँ बच्चे में विकसित हुईं और उसने विज्ञान के क्षेत्र में बड़ा नाम कमाया।

डॉ० क्रेशर लिखते हैं—बच्चे को खराब से खराब घर में जन्म मिला हो, यदि उसे अच्छा वातावरण मिले तो वह बहुत अच्छा बन सकता है, जबकि बुरे वातावरण में पड़कर अच्छे घरों के लड़के भी खराब हो जाते हैं। अच्छे और बुरे विचार अच्छे या दूषित वातावरण की ही उपज हैं, विचार कहीं अन्यत्र से नहीं आते।

बच्चा स्वयं भी एक मस्तिष्क या विचारशील प्राणी होता है। उसके अपने संस्कार भी होते हैं। आत्म-प्रदर्शन (सेल्फ एजर्शन) का भाव तो प्रत्येक बच्चे में अपना ही होता है। हमें यह देखना चाहिए कि उसकी यह भावना अच्छे अर्थ में है या खराब अर्थ में। यदि अच्छी और रचनात्मक दिशा में भावनाएँ और विचार शक्ति काम कर रही हो, तो उसे रोकना नहीं चाहिए वरन् अपनी ओर से सहयोग भी देना चाहिए। उदाहरणत: कई बच्चे छोटी अवस्था से ही अध्यापक बनना खेलते हैं, वे अपने पिता का चश्मा उठाकर पहन लेते हैं और झूठ-मूठ की हाजिरी भरने और बच्चों को डाँटने-डपटने का अभिनय करते हैं। यह आत्मप्रदर्शन इस बात का प्रतीक है कि बच्चे को अध्यापक बनना पसंद है। भविष्य में भले ही उसकी मान्यता बदले, पर अभी तो उसे इस प्रदर्शन के फलस्वरूप कई अच्छी बातें सिखाई जा सकती हैं। उदाहरणार्थ अनुशासनपूर्वक एक पंक्ति में बैठना, पढ़ाई का सब सामान क्रम से सजाकर रखना, गन्दगी से बचना आदि।

सर जगदीशचन्द्र बोस बाल्यावस्था में पौधों से बहुत प्रेम करते थे। छोटे-छोटे पौधे लाना, उनको लगाना, सींचना उन्हें जानवरों से बचाना और फल-फूलों की रक्षा करने में उन्हें बहुत आनन्द आता था उनकी इस भावना को यदि रोका गया होता, तो वह प्रसिद्ध

वनस्पति शास्त्री नहीं बन सके होते। बच्चा प्रारम्भ में अपने पूर्वजन्मों के प्रबल संस्कारों को ही प्रदर्शित करता है और यदि वह अच्छे अर्थ में—ईश-उपासना, नेतृत्व, विज्ञान, सुधारक किसी भी दिशा में हो—यदि उसमें उसका और समाज का हित होता हो—तो उस भाव को पनपने में पूरा-पूरा सहयोग देना चाहिए। उसके इस विकास में सहयोग देने के लिए उसकी पूरी बातें सुनना चाहिए, डाँटना या झिड़कना नहीं चाहिए। उसी की आयु का बनकर, उस जैसी ही टूटी-फूटी भाषा में बात करनी चाहिए ताकि वह निःसंकोच अपने को प्रकट कर सके। जो बच्चे प्रारम्भ में दब्बू हो जाते हैं, वे बाद में बुराइयों की ओर अधिक आकर्षित होते हैं।

'चोर और कोतवाल' का खेल प्रायः सभी बच्चे खेलते हैं। देखने में आया है कि दरोगा या कोतवाल वही बच्चा बनता है जो अपेक्षाकृत अधिक चतुर, हृष्ट-पुष्ट और स्वाभिमानी माता पिता के घर जन्मा होता है। चोर को पकड़ने, उसकी ढूँढ़-खोज करने और दण्ड देने की अधिकाँश क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जो उसने पुलिस वालों की देखी या सुनी होती हैं। न्याय के क्षेत्र में बालक कठोरता बरतता दिखाई देता है और उसमें वह अपनी कई बातें भी जोड़ता है, जो उसने देखी या सुनी भी नहीं होतीं। यह बातें बताती हैं कि बच्चे की भावनाओं में विकास की अच्छी सम्भावनाएँ होती हैं। यदि उनको सही दिशाएँ दे दी जाएँ, तो बच्चों में योग्य नागरिक के गुणों का क्रमिक विकास सरलता पूर्वक किया जा सकता है, जिन बच्चों को इस तरह का सहयोग नहीं मिलता, वे ही बच्चे बुरे स्वभाव और आचरण वाले होते।

भावनाओं के साथ बच्चों की इच्छाएँ भी होती हैं। इच्छाओं को जीवन-शक्ति (लाइफ फोर्स) कहते हैं। इच्छाओं को लोग शरीर से बढ़कर प्रेम करते हैं। 'विल्स डामिनेट बाडी'—यह मनोविज्ञान का बहुचर्चित सिद्धान्त है और उसका निराकरण यह देता है कि उन्हें दबाना नहीं चाहिए। फ्राइड का कथन है कि दबाई गई इच्छाएँ भी वैज्ञानिक नियम का पालन करती हैं अर्थात् जितनी शक्ति से उन्हें

दबाया जायेगा वह उतनी ही नई शक्ति से फिर फूटेंगी और विद्रोह पैदा करेंगी। इस तर्क को मानव-जीवन के हित में अचिन्त्य नहीं कहा जा सकता।

यदि इच्छाएँ ऐसी हैं, जिनसे बच्चे का अहित हो सकता है, तो उनको दूसरी समानान्तर अच्छी इच्छा के लिए मोड़ना (रिडारेक्ट) चाहिए। बच्चे को मालूम नहीं है कि चाय पीना स्वास्थ्य के लिए अहितकर है, उसने अपने मित्र, पिता या किसी पड़ोसी को चाय पीते देखा है। उसकी भी इच्छा है कि चाय पी जाए, उसे दबाना चाहेंगे तो सम्भव है वह बाजार में चाय पिए और उसके लिए घर में पैसों की चोरी करे। बेहतर है कि उसे एक कप चाय दे दी जाए, फिर उसको चाय की बुराई से परिचित कराकर प्रतिदिन मीठा दूध या कोई अन्य पौष्टिक पेय लेने को प्रेरित किया जाए। बच्चा यह बात मान लेगा और फिर दुबारा चाय के लिए हठ नहीं करेगा।

सुरुचि का विकास बालक को साहसी और स्वाभिमानी बनाने का महत्वपूर्ण साधन है। हमारी भूल यह है कि हम बच्चों को किसी भी काम के अयोग्य समझ लेते हैं। यदि उसमें थोड़ी-सी बुराइयाँ भी हों, तो भी उसे बिलकुल अयोग्य न समझकर यह मानना चाहिए कि उन्हें गलत दिशा दी गई अथवा उसके पूर्व जन्म के संस्कार अच्छे नहीं रहे।

आगे के बच्चों में यह दोष न हों इसके लिए उन्हें सुरुचि वाला बनना चाहिए। पाश्चात्य-देशों मे प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक विशेष पसन्द (हावी) होती है—किसी की खेलने की, किसी की बागवानी की, घुड़सवारी की, किसी की बढ़ईगीरी और किसी की अपनी प्राईवेट प्रयोगशाला में बैठकर नए-नए प्रयोगों द्वारा छोटी-छोटी सुविधा बढ़ाने वाली नई वस्तुओं के अनुसन्धान की। ऐसी रुचियाँ यदि हम अपने बालकों में पैदा कर सकें तो उन्हें अनेक बुराईयों से सहज ही बचा सकते है।

क्रियाशीलता आत्म-चेतना का गुण है। बच्चा चुप रह ही

नहीं सकता, यदि उसे कोई निश्चित दिशा न दी जाए, तो यह आवश्यक है कि वह तोड़-फोड़, मार-धाड़, छीनाछपटी करे। यही आदतें बुरे स्वभाव में बदल जाती हैं। यदि प्रारम्भ से ही बच्चे में कोई रचनात्मक रुचि पैदा कर दें, तो बच्चा एक नया आत्म-विश्वास लेकर आगे बढ़ सकता है।

डॉ० फ्रायड उद्दात्तीकरण (सब्लीमेशन) के पक्ष में थे। यह सिद्धान्त भी वस्तुतः काम का है। कोई लड़का मान लीजिए क्रोधी स्वभाव का है, बहुत बढ़-चढ़कर बातें करता है' अहङ्कारी है, जहाँ जाता है वहीं झगड़ा कर देता है। उसे यदि कोई अच्छी पुस्तक देकर या खेलने कूदने की प्रेरणा देकर उस आदत को मोड़ना चाहे, तो सम्भव है कि वह किताब को भी फेंक दे और खेलने-कूदने वाले साथियों को भी मार-पीट बैठे। ऐसे बच्चों को उद्दात्तीकरण द्वारा उपयोगी बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए उसे ग्रुपिंग करना सिखाया जाए और उसे कोई स्काउटिंग, एन०सी०सी० आदि किसी ग्रुप का नेता बनाकर उसे एक अच्छे सैन्य अधिकारी का उत्तरदायित्व निबाहने की प्रेरणा दी जाए। इसमें उसके खराब गुणों का उसी प्रकार उपयोग हो सकता है जैसे गन्दी खाद का उपज बढ़ाने में।

इस तरह बच्चों को जब भी कुछ समझाया, सिखाया अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरित किया जा रहा हो, तो यह ध्यान बना रहे कि उसे पूर्ण स्नेह और सहानुभूति पाने का विश्वास हो रहा है। बीच-बीच में उसकी जिज्ञासाओं को भी जगाया जाता रहे। घटनाओं, प्रसङ्गों या कथाओं के माध्यम से उसकी पुष्टि भी की जाती रहे। उसे दूसरों के आगे परिचित (इन्ट्रोड्यूस) भी कराया जाता रहे। बच्चे की गलत प्रशंसा भूल कर न की जाए पर उसकी छोटी सी विशेषता को भी बड़ा माना जाए तो निश्चय ही एक दिन वह उस छोटी सी अच्छाई को ही बहुत अधिक विकसित कर लेता है।

प्रत्येक स्थिति में बच्चे को व्यस्त रखना आवश्यक है, भले

ही उसके काम का कोई उपयोग न होता हो। व्यस्त रहकर सामाजिक जीवन को स्वस्थ और समस्याहीन शांतिमय बनाया जा सकता है। पन्तनगर में परीक्षा प्रति सप्ताह या प्रति पखवारे होती है। वार्षिक परीक्षा वहाँ नहीं होती। इन्हीं छोटी परीक्षाओं (टेस्ट) के नम्बर जोड़कर विद्यार्थियों को उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण किया जाता है। इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य बच्चों को पढ़ाई में सदैव व्यस्त रखना होता है और सचमुच उसका बच्चों पर बड़ा अच्छा असर होता है। शिक्षा के स्तर की दृष्टि से यहाँ के बच्चे दूसरे स्कूलों के बच्चों से योग्य होते हैं।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में व्यस्तता बढ़ाकर आज की और भावी पीढ़ी की योग्यताओं का विकास जिस समाज में रहा होगा, वहाँ के लोगों में बुराईयाँ कम होंगीं। आत्महीनता भी वहां कम होगी क्योंकि वह तो बुराइयों का ही आत्मा पर पड़ा हुआ व्यापक प्रभाव है। बुराइयों को मिटाकर ही हम अपने देश में आत्म-विश्वासी और प्रतिभा सम्पन्न नागरिकों को जन्म दे सकते हैं।



बच्चों का सुधार कैसे हो?

बच्चों में पैदा होने वाली खराब आदतें, बुराइयों का कारण उनके पूर्वाग्रह, संस्कार, मूल प्रवृत्तियाँ तो हैं ही किन्तु इस सम्बन्ध में माँ-बाप का गलत व्यवहार, अदूरदर्शिता, अज्ञान भी एक बहुत बड़ा कारण है। बहुत से माँ-बाप अपने बच्चों के मचलने, जिद्द करने की शिकायत किया करते हैं और इससे वे बड़ी परेशानी भी महसूस करते हैं। इसके पीछे घर में अशान्ति, क्लेश, मारपीट, झल्लाहट आदि के प्रसंग आए दिन घटते रहते हैं। बच्चों को इस गुस्ताखी के लिए दोषारोपण, ताड़ना, तिरस्कार, आदि का अवलम्बन किया जाता है। किन्तु विवेकपूर्वक देखा जाए तो बच्चों को जिद्दी और उद्दण्ड बनाने

में अभिभावकों का ही बहुत बड़ा हाथ होता है। बच्चे तो उस नवजात कोमल पौधे की तरह हैं जिसे विधिवत् सींचकर, खाद देकर, काट-छाँटकर माली सुसंस्कृत रूप देता है। माली की भूल, अज्ञान अथवा लापरवाही से सुन्दर दीखने वाले उद्यान भी बीहड़ जंगलों में परिणित हो जाते हैं। अच्छे भले दीखने वाले पौधे बेडौल और कुरूप लगते हैं।

अक्सर माँ-बाप प्रारम्भ में अधिक लाड़-प्यार अथवा उदारतावश उचित अनुचित का ध्यान रखे बिना ही बच्चों की विभिन्न माँगों को पूर्ण करने लगते हैं। इतना ही नहीं कई माँ-बाप तो गर्वपूर्वक कहते हैं "मैं नहीं चाहता मेरे बच्चे दुःखी रहें किसी तरह का अभाव महसूस करें।" जब बच्चे इस अत्यधिक उदारता के वातावरण में पनपने लगते हैं तो उनके मन और मस्तिष्क पर वैसा ही प्रभाव पड़ने लगता है। जिस स्तर पर माँ बाप उनकी आवश्यकताएँ पूर्ण करते हैं, वही बच्चों का स्तर बन जाता है। किन्तु गृहस्थ जीवन में बढ़ती हुई जिम्मेदारियों, खर्चे, बदलती हुई परिस्थितियों अथवा आकर्षण कम होने पर बच्चों के साथ व्यवहार में भी परिवर्तन होने लगता है। पहले जितनी उदारता से बच्चों की आवश्यकता पूर्ति का ध्यान रखा जाता था वैसा बाद में नहीं रहता, किन्तु बच्चों का मानसिक स्तर पूर्व जैसा ही बना रहता है। जिस वातावरण में उनका पालन पोषण पहले हुआ उसी की आगे भी अपेक्षा रखते हैं। पूर्व अभ्यास जन्य आदतों से प्रेरित होकर बच्चे वैसी ही माँग भी करने लगते हैं। उधर माँ बाप से उनकी माँग की पूर्ति नहीं होती। इस पर बच्चे रोते हैं, मचलते हैं, रूठने लगते हैं, चिल्लाते हैं। मुँह फुलाकर एक कोने में दुबक जाते हैं तो माँ-बाप द्वारा भी झल्लाहट, ताड़ना, मारपीट आदि शुरू हो जाती है। सारे घर में कुहराम मच जाता है। बच्चों को दोष दिया जाता है, उनकी आदतों की आलोचना की जाती है।

विचार-विवेक से शून्य बालक कभी-कभी दूसरों की देखा-देखी भी कुछ अनावश्यक माँगें कर बैठते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चों का ध्यान, प्यार, दुलार और स्नेह से किसी दूसरे पहलू पर

केन्द्रित कर देना चाहिए। उन्हें किसी खेल में लगा दिया जाए। समझदार बच्चों को समझा भी देना चाहिए। कई माँ बाप जो ऐसी स्थिति में बच्चों को ताड़ना देते हैं, उनकी माँगें ठुकराते हैं, उन्हें बुरा कहते हैं। वे वस्तुतः अपने बच्चों में मचलने, जिद्द करने की आदत डालते हैं। बच्चों के साथ जिद्द करना उल्टा उन्हें अधिक जिद्दी और हठी बनाना है। किसी भी बात पर बच्चों का विरोध करने पर उन्हें उत्तेजना मिलती है और वे अधिकाधिक जिद्दी बन जाते हैं। यही खराब आदतें आगे चलकर अनुशासनहीनता, उद्दण्डता, झगड़ालू प्रवृत्ति, अशिष्टता, असभ्यता को जन्म देती हैं।

बच्चों में सहज स्वतन्त्रता का भाव अधिक होता है। उनकी स्वतन्त्रता में बाधा डालना, उनकी बातों का विरोध करना, उनमें अधिक जिद्दी झगड़ालू एवं मचलने की वृत्ति को भड़काता है। बच्चों के सुधार का कोई भी नियम स्वयं बच्चों की सहमति प्राप्त करके लागू करना अधिक प्रभावकारी होता है। बच्चों की खराब आदतों को ठीक करने के लिए जबरदस्ती और हठपूर्ण प्रयत्न करना उसी तरह की भूल है जैसे कुपथ्य का आचरण करके रोग को ठीक करना। बच्चे यदि अपने ही अहित की बात पर भी मचलते हैं तो उन्हें मचलने दिया जाए। ठोकर लगने पर वे स्वतः ही वैसा नहीं करेंगे।

खराब आदतों के बच्चों के संग में रहकर बच्चे वैसी ही आदतें सीखने लग जाते हैं। अतः बच्चों को ऐसे संग से बचाना चाहिए। अत्यधिक लाड़ प्यार से भी बच्चे जिद्दी बन जाते हैं। अतः लाड़ प्यार भी मर्यादित और संयमित होना चाहिए।

चंचल, अधिक क्रियाशील बच्चों में फुर्ती, तेजी, जीवट अधिक होता है। उनकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ औसत दर्जे के बच्चों से अधिक काम करती हैं। बुद्धि एवं प्रतिभा भी ऐसे बच्चों में तीव्र होती है। ऐसे बच्चे तनिक भी शान्त नहीं रहते। धर पटक, तोड़फोड़, मारना पीटना घर वालों को परेशान करना, अभिभावकों को खिजाना ये इन क्रियाशील बच्चों की साधारण सी

बातें हैं। यदि इन बच्चों का भली प्रकार निर्माण किया जा सके, इनकी क्रियाशक्ति को रचनात्मक बनाया जा सके तो ये बच्चे जीवन में महान कार्यों का सम्पादन करते हैं अन्य बच्चों से अधिक सफल होते हैं।

चंचल और क्रियाशील बच्चों की यह विशेषता होती है कि वे हर बात में अपनी ही मरजी को प्रमुख स्थान देते हैं। खाने-पीने, सोने-उठने, बैठने तक में भी ये बच्चे दूसरों की इच्छा पर आनाकानी करते हैं।

ऐसे बच्चों से जोर जबरदस्ती पूर्वक काम नहीं लेना चाहिए। चंचल बच्चों की अच्छी आदतों का सम्मान करते हुए उनसे घुल-मिलकर उन्हें अपने से सम्मत बनाकर फिर चाहे जैसा काम लिया जा सकता है। साथ ही उन्हें सन्तुष्ट बना इच्छानुसार मार्ग पर चलाया जा सकता है। बच्चों के साथ किए जाने वाले व्यवहार में चालाकी, भेदभाव, न रखा जाए। उसे ये तीव्र बुद्धि के बालक फौरन ही ताड़ लेते हैं और फिर अविश्वासी बन जाते हैं। फिर किसी सही बात को भी सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और उसे मानने को तैय्यार नहीं होते। वस्तुतः रहस्यमय, चालाकी और भेदभाव पूर्ण व्यवहार बच्चों के साथ कभी भी नहीं करना चाहिए।

बच्चों के निर्माण में स्थान का प्रभाव भी बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। बच्चों के मानसिक स्तर पर स्थान का अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जो उनके व्यक्तित्व के निर्माण क्रम को भी प्रभावित करता है। जिन बच्चों का प्राकृतिक स्वभाव बहुत से लोगों के बीच रहने का होता है उन्हें एकाकी और सुनसान स्थान में रखना ठीक नहीं। इससे उनमें कई मानसिक उलझनें, भय, सन्देह, शंका, विक्षिप्तता आदि पैदा हो जाएँगे। ऐसे बच्चों का मानसिक विकास और पुष्ट व्यक्तित्व का निर्माण सामूहिक रहन सहन में भली प्रकार हो सकता है।

चंचल एवं क्रियाशील बच्चों के लिए सबसे आवश्यक

बात है उन्हें किसी न किसी रचनात्मक कार्य, खेलकूद, भाग दौड़ आदि में लगाए रखा जाए। जिस घर में बच्चों को किसी रचनात्मक कार्य में लगा दिया जाता है, वे बच्चे जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं और वे औसत दर्जे के बच्चों से अधिक सफल होते हैं और ठीक-ठीक शिक्षण, निर्माण न होने पर ऐसे बच्चे औसतन बच्चों से अधिक खराब, अपराधी और भयङ्कर भी बन जाते हैं।



बच्चों को समय का सदुपयोग सिखाया जाए

अवकाश का अर्थ बेकार पड़े रहना अथवा सोते रहना नहीं है और न उसका यह ही आशय है कि जिन्हें अवकाश मिला है वे बेकार में इधर-उधर-बैठकर और गप लड़ाकर समय नष्ट कर डालें। अवकाश का तात्पर्य हैं निरन्तर किए जाने वाले कार्य को कुछ समय के लिए स्थगित करके कुछ ऐसा काम करना जिससे नवीनता आए, मन मस्तिष्क में कुछ परिवर्तन आए तथा ज्ञान मिले और मनोरंजन हो।

पढ़ने वाले लड़कों को वर्ष में सब मिलाकर लगभग छः माह का अवकाश प्राप्त होता है। इस अवकाश में से यदि त्यौहार तथा साप्ताहिक छुट्टियाँ निकाल दी जाएँ जब भी यह अवकाश का समय चार साढ़े चार माह का तो बच ही सकता है। उसमें गर्मी की तो एक साथ ही लगभग दो माह की छुट्टियाँ होती है। यह सारा अवकाश बच्चे या तो घर में पड़े-पड़े सोते हुए बिताते हैं अथवा नाते रिश्तेदारी में विवाह शादी में। इस अवकाश का कोई समुचित उपयोग नहीं होता। यदि हो सके तो निश्चित है कि इस अवधि में बच्चे बहुत-सा नया ज्ञान और अर्थ तक उपार्जन कर सकते हैं।

नौकरी पेशावर अभिभावकों को छोड़कर लगभग अन्य

सारे अभिभावकों में से किसी के खेती का काम होता है तो किसी के यहाँ कार रोजगार और दुकानदारी होती है। ऐसे अभिभावकों को चाहिए कि वे अपने बच्चों को अवकाश के समय में उन कामों में लगाया करें। यह कभी न सोचें कि यह तो पढ़ने लिखने वाले हैं इनका मन मस्तिष्क इसमें अभी नहीं लग सकता। खेलकूद लेने दिया जाए। जब समय आएगा, काम-काज सिर पर आ पड़ेगा तो आप कर लेंगे। अभिभावकों की यह विचार धारा बड़ी अवैज्ञानिक है। जिन बच्चों को शुरू से ही थोड़ा-थोड़ा काम में लगाया जाता रहता है उनका उस काम में एक प्रकार से प्रशिक्षण होता चलता है। उन्हें उसकी बाहरी व भीतरी बातें पता चलती हैं। उनकी रुचि बढ़ती ही जाती है और जब वे पढ़ाई पूरी करने के बाद वह काम अपने हाथों में लेते हैं तो वह उनके लिए बहुत नवीन या कठिन नहीं होता।

जिन अभिभावकों की खेती होती है, वे अवकाश के समय में उन्हें खेती के काम से परिचित कराएँ, सहायता लें। खेतों पर घुमाने ले जाएँ, उनकी पैदावार और कठिनाई के विषय में अवगत कराएँ। किन खेतों में पैदावार अच्छी होती है और किन में नहीं, इसका कारण बतलाएँ। हल किस प्रकार ठीक से जोता जाता है, बैल कौन-सी नस्ल के अच्छे होते हैं और उनको किस प्रकार स्वस्थ रखकर अधिक से अधिक काम लिया जा सकता है—यह सब व्यावहारिक अनुभव उन्हें कराएँ। ऐसा करने से उनका न केवल ज्ञान बढ़ेगा बल्कि खेती के काम में रुचि भी पैदा होगी, जिससे यह समस्या हल होने में सहायता मिलेगी कि बच्चे पढ़ लिखकर खेती करने के बजाय शहरों में छोटी-मोटी नौकरी कर लेना पसन्द कर लेते हैं। किसी काम की योग्यता, उससे हाथ पाँवों का परिचय और रहस्यों की जानकारी उसमें वह रुचि पैदा कर देती है। यदि बच्चे शुरू से ही हल, बैल मिट्टी, खाद, खेत आदि से तन-मन से परिचित होते रहें तो वह उनके लिए नवीन काम न रह जाए। उनकी सारी

झिझक निकल जाए और वे उसके लाभ तथा उपयोगिता से परिचित होने से सहर्ष वह धन्धा अङ्गीकार कर लेंगे।

व्यापारी वर्ग भी अपने धन्धों में बच्चों को इसी प्रकार प्रशिक्षित कर सकते हैं। वे उन्हें अपने साथ बाजारों में ले जाएँ। क्रय-विक्रय की रीति से परिचित कराएँ। माल की अच्छाई-बुराई पहचानने की योग्यता दें। अन्य व्यापारियों के शील स्वभाव तथा आवश्यकताओं से परिचित कराएँ। बाजारों की आवश्यकता तथा ग्राहकों की माँग व रुचि से अवगत करें। व्यापार की तरक्की का क्या रहस्य है उसमें पतन तथा घाटा जिन कारणों से आता है वे बताए जा सकते हैं और उनसे सावधान रहने की चेतावनी दी जा सकती है। इस प्रकार उनसे बाजारदारी और दुकानदारी कराकर उनको बहुत पहले से ही उस काम में रमाया जा सकता है जिससे आगे चल कर उनका मन न लगने का प्रश्न ही न उठे। बच्चों के अवकाश का समय बेकार नहीं जाने देना चाहिए। उसे किसी न किसी प्रकार उपयोग में लाना ही ठीक होगा।

वे अभिभावक जिनका अपना कुछ काम नहीं होता, बच्चों को आगे जिस काम में लगाना चाहते हैं उस काम के लिए किन्हीं दूसरे कारवारी के पास भेज सकते हैं। मानिए आप बच्चे को तकनीकी क्षेत्रों में पहुँचाना चाहते हैं किन्तु आप स्वयं किसी कार्यालय में नौकरी करते हैं। ऐसी दशा में आप बच्चे को किसी भी मित्र परिचित अथवा सम्बन्धी के उस कारखाने में भेज सकते हैं जिसमें मशीनरी अथवा अन्य तकनीकी काम होता हो। किसी कारखाने के मालिक मैनेजर को बच्चे से काम लेने के लिए कह सकते हैं। शायद ही ऐसा कोई अदूरदर्शी मैनेजर मालिक हो जो आप की प्रार्थना अस्वीकार कर दे। आज देश को ज्यादा से ज्यादा तकनीशियनों की जरूरत है। सरकार को ही नहीं व्यक्ति उद्योगपतियों तथा छोटे-छोटे कारखानेदारों को उनकी कमी रहती है। वे तो खुशी से चाहेंगे कि लोग अपने बच्चे तकनीकी लाइन में सीखने के लिए भेजें।

इसी प्रकार जो अपने बच्चे को व्यापारी बनाना चाहते हैं। यदि बच्चे निस्वार्थ भाव से ईमानदारी के साथ काम तथा सेवा करेंगे तो कोई भी व्यापारी उन्हें रखने सिखाने में आपत्ति न करेगा। बहुत से परिवारों में उनके घरेलू उद्योग धन्धे होते हैं। वे बच्चों को उसमें लगा सकते हैं। कताई, बाल कताई और सिलाई करने वाले उनको सिलाई का प्रशिक्षण दे सकते हैं। रंगाउ, मीनाकारी अथवा कढ़ाई, छपाई का काम करने वाले उन्हें अपने काम का अभ्यास करा सकते हैं। इस प्रकार एक नहीं सैकड़ों काम ऐसे हो सकते हैं जो अवकाश के दिनों में बच्चों को सिखाए और उनसे कराए जा सकते हैं। अवकाश का समय जिस प्रकार से चाहें खराब करें बच्चों को इसकी स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिए। उन दिनों उनका सामान्य नियम बंधन भी टूट जाता है। पढ़ाई लिखाई का काम एक तरह से स्थगित हो जाता है। इसलिए समय पर उठना, स्कूल के लिए तैयारी करना, समय पर पढ़ना और समय पर खेलने के सारे नियम शिथिल हो जाते हैं, जिससे उनमें आलस्य अव्यवस्था तथा अनियमितता की दुर्बलता पैदा हो जाती है जो स्कूल खुलने के बाद बहुत-सा समय लेकर दूर हो पाती है इसलिए उनको अवकाश के दिनों को सोने, मटरगस्ती करने अथवा जहाँ-तहाँ निठल्ले उठने बैठने की छूट कदापि नहीं दी जानी चाहिए। आवश्यकतानुसार उन्हें किन्हीं उपयोगी काम में लगाया जाना चाहिए। यह उनके भविष्य के लिए ही हितकारी होगा। बेकार फिरते रहने से उनमें अन्य अनेक प्रकार के विकार व्यसन भी पैदा हो सकते हैं। इन सबकी सम्भावनाएँ बच्चों को काम में लगाए रहने से दूर हो जाती है।

प्रगतिशील विदेशों में छात्रों का अवकाश बेकार नहीं जाने दिया जाता है। उनमें संस्थाओं तथा सरकार के सहयोग से छात्रों के अवकाश शिविरों का आयोजन किया जाता है। उदाहरण के लिए अमेरिका को ले लीजिए वहाँ के ये शिविर बड़े व्यावहारिक ढंग से चलाए जाते हैं और प्रतिवर्ष इनमें अधिकाधिक छात्र आकृष्ट होते

रहते हैं। उन अवकाश शिविरों में उन्हें सुन्दर आहार, उचित काम, खेलकूद और स्वस्थ मनोरंजन के अवसर दिए जाते हैं। मनोवैज्ञानिक निर्देश, प्राथमिक चिकित्सा, जन-सेवा, व्यायाम, खेलकूद, तैराकी, भोजन बनाने आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है। उन्हीं शिविरों में उन्हें नैतिकता, देशभक्ति तथा संसार की राजनीति पर प्रवचन तथा भाषण भी दिए जाते हैं और दिलाए भी जाते हैं। विद्यार्थियों में नई स्फूर्ति, नई रुचि तथा नई चेतना होती है। उनका मन पढ़ाई में पूरी तरह से लगता है और वे शिविरों से प्राप्त ज्ञान का उपयोग भी अपनी योग्यता प्रदर्शित करने में किया करते हैं।

अमेरिका की तरह छात्रों के अवकाश शिविरों का प्रचलन रूस में भी है। रूस में इनका आयोजन शिक्षा बोर्ड की तरफ से होता है। यद्यपि अभिभावकों से कुछ अनुदान लिया जरूर जाता है किन्तु इनका अधिकांश व्यय शिक्षा बोर्ड ही किया करता है। प्रत्येक विद्यालय अपना समावकाश का शिविर स्वयं आयोजित करता है। किसी पूर्व निश्चित स्थान पर बच्चों के रहने का प्रबंध झोपड़ों, लकड़ी के मकानों अथवा पुराने ग्रामों के खाली पड़े निवासों में कर दिया जाता है। इन शिविरों में स्वास्थ्य विश्राम तथा मनोरंजन के कार्यक्रमों के सिवाय विद्यार्थियों को नागरिकता की शिक्षा भी दी जाती है। इन शिविरों में बच्चों की टोलियाँ बट जाती है जो बारी बारी से सबके लिये भोजन बनाती और खिलाने की व्यवस्था करती हैं। इस प्रकार उनको न केवल पाक विद्या का अभ्यास होता है बल्कि प्रीति तथा सहभोज का आनन्द मिलता है।

अवकाश के कार्य-क्रमों से निवृत्त होकर विद्यार्थी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी मनमौज के मनोरंजन कर सकते हैं। इस समय कोई तो पेड़ों पर चढ़ने का अभ्यास करता है, कोई हरी घास पर बैठकर वार्तालाप करते हैं। कोई अपनी कूची और रंग लेकर प्रकृति का चित्रण किया करता है। कोई कविता लिखता तो कोई संगीत का आनन्द लेता है। इसके अतिरिक्त क्षेत्र की सफाई शिविरों

की व्यवस्था तथा दूर-दूर तक सैर सपाटों का कार्यक्रम भी रहता है। द्वितीय महायुद्ध के समय रूस के छात्रों ने सत्र की छुट्टियां अपने अध्यापकों की देख रेख में सामूहिक तथा सहकारी खेतों में काम करने में ही बिताई थी।

अवकाश के दिनों में पैतालिस लाख छात्रों और आठ लाख अध्यापकों ने खेती में हाथ बटाया था। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे बच्चों ने विभिन्न कार्यों के लिए फलों, कुकुरमुत्तों और औषधियों का भी संग्रह किया था। केवल बीस प्रदेशों के बच्चों-ने स्थानीय अधिकारियों को लगभग तीन सौ चवालीस टन पुरवा धड़का कुकुरमुत्ता, ग्यारह सौ तिरेपन टन बेरी और फल और ग्यारह सौ पचास टन औषधियों का संग्रह भेंट किया था। बच्चों की यह राष्ट्रीय सेवा किसी भी दृष्टिकोण से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कौन कह सकता है कि बच्चों की इस देश भक्ति के इस परिश्रम तथा इस पुरुषार्थ ने स्वाधीनता की रक्षा में कितना योगदान किया था।

इन्हीं अवकाश शिविरों के अवसर पर, बच्चों को सहकारिता, सहयोग, राष्ट्रीयता तथा नागरिकता की शिक्षा व्यावहारिक रूप से दी जाती है। सहकारी खेती और सामूहिक फार्मिंग का प्रशिक्षण दिया जाता है। इन भौतिक लाभों के अतिरिक्त इन शिविरों में छात्रों को भावनात्मक लाभ भी कम नहीं होता। इससे उनमें पारस्परिक, प्रेम तथा सौहार्द्य की भावना बढ़ती है। वे सहकारिता तथा मिलजुलकर काम करने के मूल्य को समझते हैं। उनमें भाई चारे का भाव बढ़ता है। कितना अच्छा हो कि भारत में भी छात्रों के अवकाश शिविर आयोजित किए जाएँ और उनको उपयोगी काम तथा महान चरित्र की शिक्षा दी जाया करे। सरकार तथा संस्थाओं से तो आशा की ही जा सकती है, साथ ही अभिभावकों से भी यह आशा करना अनुचित नहीं कि वे अपने बच्चों को छुट्टियाँ आलस में न बिताने दें। उन्हें ऐसे उपयोगी कामों में लगाते रहें जिनका सुफल वे स्वयं पावें और उनका राष्ट्र भी। अध्यापक तथा अभिभावक मिलकर किसी न

किसी प्रकार इस प्रकार के छोटे-छोटे छात्र शिविरों का आयोजन कर सकते हैं और देश व समाज के हित में उन्हें करने ही चाहिए। यदि भावना हो तो सब कुछ हो सकना सम्भव है।



बालकों को अनावश्यक सहयोग मत दीजिए

मेरिया मान्टेसरी ने कहा है कि बच्चे चाहते हैं 'मुझे मदद करो ताकि मैं अपने पांवों पर खड़ा हो सकूँ। अनावश्यक मदद वास्तव में मेरी मदद नही है परन्तु मेरे विकास में बाधा उत्पन्न करती है।'

बड़े कहते हैं 'हम बच्चे का सब काम खुद करते हैं। उसे गुड्डे के सदृश्य सजा कर, सँभाल कर रखते हैं। उसको नहलाना, धुलाना, कपड़े पहनाना, खिलाना-पिलाना, सुलाना आदि सभी कार्यों का भार अपने ऊपर लिया हुआ है। इसकी प्रत्येक इच्छा पूरी करने की हम चेष्टा करते हैं। परन्तु फिर भी यह खुश नहीं है।'

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जी लिखते हैं। 'बड़े यह बात भूल जाते हैं कि इस प्रकार करते हुए वे अनजान में बच्चे के विकास में कितनी बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। बच्चे को माँ-बाप की केवल उतनी ही मदद चाहिए जिससे वह स्वावलम्बी बन सके। उसको सही ढङ्ग से अपने शक्तियों को विकसित करने की प्रेरणा मिल सके। उनके उदाहरणों से वह स्वयं आगे बढ़ने का प्रोत्साहन पा सके। अपनी गलतियों से सबक सीखता हुआ वह दिन पर दिन प्रगति की ओर बढ़ा जाए। आरम्भ में वह भूल करता है, आगे बढ़ने के लिए गिरता है, ठोकर खाता है—फिर संभल कर चलने के लिए। अगर बच्चे की इतनी प्रारम्भिक क्रियाओं को निरर्थक और निरुद्देश्य समझ कर रोक दिया जाए तो उसकी प्रगति रुक जाएगी। उसे वस्तुओं से परिचय बढ़ाना है, अपनी जानकारी बढ़ानी है, जीने के लिए कर्मशील बनना है। अगर आप बच्चे की इस माँग को अनावश्यक

सहयोग देकर अपूर्ण रखेंगे तो वह या तो असामाजिक ढङ्ग से व्यवहार करने लगेगा, आप के प्रति विद्रोही बन जाएगा, आप की आज्ञा उल्लंघन करेगा और या वह दब्बू और निकम्मा बन जाएगा, उसकी प्रगति रुक जाएगी वह हमेशा दूसरों का मोहताज बना रहेगा।'

बालक के भीतर अनन्त सम्भावनाओं के बीज हैं, विश्व में ऐसा कुछ नहीं जो बीज रूप में बालक के भीतर न हो, समय पाकर वे ही बीज विकसित और संवर्द्धित होते हैं।

पूर्वजों ने जो किया और जाना, उसे बालक के कर्म और ज्ञान में नवीन अवतार लेना पड़ेगा। इस प्रकार प्रयत्न से जो नई पीढ़ी तैयारी होती है, वह उस श्रृंखला में एक कड़ी है जो मानव जाति का गौरवमय अतीत और आशामय भविष्य है।

बच्चे की संघर्ष शक्तिः—प्रकृति ने हर एक प्राणी में जीवित रहने के लिए संघर्ष करने की शक्ति पैदा की है। उदाहरण के लिए आप एक तितली के बच्चे को लें। तितली माँ अपने अण्डे पत्तों के कोटर में देती है ताकि उस जगह अण्डे शत्रुओं से सुरक्षित रहें, परन्तु जब उनमें से ''कैटरपिलर'' निकल आते हैं उन्हें स्वयं जीवित रखने के लिए नर्म नर्म पत्तों की फुनगियों की आवश्यकता प्रतीत होती है। वे विचित्र प्रकार से रेंग-रेंगकर उन फुनगियों तक स्वयं पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार कछुए अपने अण्डे बालू में गाड़कर स्वयं पानी में आकर तैरते हैं। अण्डों से बच्चे निकल कर स्वयं रेंग कर पानी तक आ जाते हैं। मनुष्य का क्रियाशील रहना उसके जीवित रहने के लिए परमावश्यक है। कुछ करने की भावना होना बच्चे में बहुत स्वाभाविक है। पालने में पड़े हुए उसका हाथ-पाँव मारना या थूक के बुदबुदे उड़ाते हुए निरर्थक ध्वनियां करना मानो उसकी प्रारम्भिक क्रियाएँ हैं, जो कि उसके लिए चलना और बोलना सीखने के लिए बहुत जरूरी है। इसी प्रकार जब वह वस्तुओं को उठाकर उलटता-पलटता तथा उन्हें फेंक देता है या बार-बार एक ही काम को दोहराता है, सीढ़ियों पर चढ़ता उतरता है, वह ऐसा

करता हुआ अपनी जानकारी बढ़ाया करता है। अपने अङ्गों को पुष्ट बनाने की चेष्टा कर रहा है।

बच्चे अपने आस-पास की दुनिया से परिचय बढ़ाना चाहते हैं। पर बड़े उनको पग-पग पर रोकते टोकते हैं। इस संघर्ष में चाहे बड़ों की जीत होती हो पर इसका प्रभाव बच्चों पर अच्छा नहीं पड़ता।



बच्चों को अधिक आदेश न दें

प्रायः बच्चे इसलिए अवज्ञाकारी बन जाते हैं कि हम उन्हें अत्यधिक आज्ञाकारी बनाना चाहते हैं। यदि बच्चों को दी जाने वाली आज्ञाओं की केवल एक वर्ष की सूची बनाई जाए, तो वह इतनी बड़ी होगी, जितनी बड़ी शायद कानून की सब किताबें भी न हों।

उन्हें उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, खेलते-कूदते हर समय आज्ञा ही देते रहते हैं और यह भी चाहते हैं कि वह उन सब आज्ञाओं का अक्षरशः पालन भी करे। हमारा यह भाव इतना बढ़ जाता है कि यदि सौ आज्ञाओं में से बच्चे ने किसी परिस्थितिवश एक की भी अवज्ञा करदी कि बस हम आपे से बाहर हो जाते हैं। उसे न जाने कितनी उपाधियाँ दे डालते हैं और अवज्ञाकारी मानकर, उसके प्रति निराश होकर एक अशान्ति पनपा लेते हैं।

हमने बच्चों के अच्छे बुरे होने का मापदण्ड केवल अपनी आज्ञाकारिता को ही बना लिया है। जो बच्चा कोई भी आज्ञा पाने पर तत्काल उसका पालन करता है, वह तो बड़ा अच्छा, लायक और होनहार है और जो ऐसा नहीं कर पाता, वह मानो बिल्कुल निकम्मा और नालायक है। हमारी आज्ञा पालन होनी ही चाहिए, फिर चाहे वह उसके अनुकूल हो या प्रतिकूल।

मनुष्य को आज्ञा चलाने और उसको पूरा देखने की बड़ी चाह होती है। इससे उसके अहं को बड़ा सन्तोष मिलता है। इसलिए बहुधा देखने में आता है कि जो बच्चा अधिक आज्ञानुवर्ती रहता है, वह अन्य बच्चों से अधिक प्यारा होता है। उसका लिहाज भी बहुत रक्खा जाता है। उसे चीज और पैसे भी अधिक मिल जाते हैं। उसके दोषों की उपेक्षा कर दी जाती है और एक तरह से वह अन्य बच्चों का मानीटर मान लिया जाता है, और जो बच्चे कम आज्ञानुवर्ती रह पाते हैं वे बेचारे इन सब बातों से वंचित रह जाते हैं।

बच्चा तो बच्चा, आज्ञाकारी पशुओं तक को विशेषता मिलने लगती है। जो पशु आज्ञानुसार परिचालित होते हैं उन्हें हम बहुत चाहने लगते हैं। अपने हाथ से खिलाते-पिलाते और नहलाते तक हैं। कोई नुकसान कर देने पर उन्हें क्षमा कर देते हैं। उसे मारने पर बच्चों तक को डाँटने-फटकारने लगते हैं। उसकी उपेक्षा करने पर घर वालों पर नाराज हो उठते हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी को आज्ञानुवर्ती रखने की हमें कितनी उत्सुकता रहती है।

हमें बच्चों अथवा अपने अधीनस्थों पर आज्ञा चलाने का अधिक अवसर रहता है। इसलिए हम अपने इस अहं को सन्तुष्ट करने में उनको ही लक्ष्य बना लेते हैं। चूँकि बच्चे छोटे भी होते हैं, हमारा जन्मजात उन पर अधिकार भी होता है और हर समय उपलब्ध भी रहते हैं, इसलिए वे ही हमारे इस अहं के सबसे अधिक वाहक बनते हैं।

जहाँ बच्चा इस योग्य हुआ कि वह कोई बात समझ सकता है कि हमारी आज्ञाओं का तारतम्य प्रारम्भ हो गया। 'बेटे, मुँह खोलो' बेटे दाँत दिखलाओ, 'बेटे हाथ उठाओ,' 'बेटे जय करो' आदि। ऐसी आज्ञाओं से, जो प्यार और प्रशिक्षण की द्योतक मालूम होती है, शुरुआत्त होकर हमारे आदेशों की कठोरता और कठिनता बच्चे की वृद्धि के साथ बढ़ती जाती है। किन्तु इसका विचार बिल्कुल नहीं करते कि इसके साथ कुछ उसका अपना व्यक्तित्व भी विकास कर

रहा है।

प्रारम्भिक आज्ञाओं में भी अनुभव किया जा सकता है, कि जिन आज्ञाओं को हम, प्यार का द्योतक और बच्चे के प्रशिक्षण की विधि समझते हैं, उसमें भी हमारा अहं किस सीमा तक निहित रहता है। यदि हमारे एक बार कहने से अपनी मौजवश वह हाथ नहीं उठाता या नहीं करता तो हम जहाँ तक सम्भव होता है, बार-बार कहकर, प्यार से पुचकार कर, खेद करके दिखलाकर, वैसा करा कर ही पीछा छोड़ते हैं और यदि बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी वह वैसा नहीं करता तो हम में एक खिन्नता का कुछ न कुछ भाव आ जाता है और हम उसे प्यार से गाल पर या पीठ पर थपथपा कर स्नेह का पुट देते हुए कोई न कोई उपाधि दे देते हैं, जैसे, 'बड़ा बदमाश' 'बड़ा मनमौजी' है, आदि किन्तु यह बात माननी पड़ेगी कि उसकी उस अवज्ञानुकारिता से हमें कुछ न कुछ अरुचिकर निराशा अवश्य होती है।

जब गोद के अबोध शिशुओं के सम्बन्ध में हमारी यह दशा है, तो जो बच्चे सयाने होते हैं उनकी मन-मौज को सहन कर सकना कहाँ तक हमारे वश की बात होगी?

बहुत कुछ स्वाभाविक होने पर भी यह अहंभाव श्रेयस्कर नही है। क्योंकि इसकी अतिरेकता बच्चों और अभिभावकों के बीच, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में तनाव उत्पन्न कर देती है। अस्तु एक ओर आज्ञाओं की वृद्धि और दूसरी ओर स्वच्छन्द बुद्धि के विकास में संघर्ष बचाने के लिए अभिभावकों को, बच्चों को प्रत्येक परिस्थिति में, एक लकड़ी से हांकने का हठ न करना चाहिए।

बहुधा देखने में आया है कि कोई काम करते वक्त अभिभावक बच्चों से अर्दली की तरह काम लेते हैं। जरा वह उठाना, यह उधर रखना, इसे हटाना, वहाँ चले जाना, माँ को बुलाना, पानी लाना, यह कर देना, वह कर देना आदि—आदेशों का एक सिलसिला लगा देते हैं।

बहुत बार तो बच्चे से एक काम छुड़वा कर दूसरी आज्ञा दे दी जाती है। पढ़ने से उठाकर काम के लिए दौड़ाया जाता है, खेलने से बुलाकर सेवा ली जाती है। यही नहीं कि कोई एक व्यक्ति ही आज्ञा चलाता हो, उसे उससे जो भी बड़े व्यक्ति होते हैं समान रूप से आज्ञाकारी रखना चाहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अभी पिता की आज्ञा का पालन हो ही रहा था कि माता का आदेश हो गया। माता का आदेश पूरा नहीं हुआ कि बड़ी बहन या भाई ने कुछ काम बता दिया। कभी-कभी बहुत से लोग एक साथ काम बतला देते हैं। तो या तो बेचारा, सब का काम सबकी इच्छानुसार कर नहीं पाता, या कुछ न कुछ बिगड़ जाता है, जिससे उसे अनेकों का कोप भाजन बनना पड़ता है।

कभी-कभी कुछ काम बिना कोई निर्देश दिए आदेशित कर दिए जाते हैं जैसे-यह पुस्तकें अलमारी में रख दो, या अमुक वस्तु को अनेक वस्तुओं से स्थानान्तरित करदो और जब वह काम उनकी इच्छा से साम्य नहीं खाता तो उसे कम अक्ल या बेशऊर होने की अनेक, उपाधियाँ दे डाली जाती हैं। बहुत बार ऐसी भ्रामक और विपरीत आज्ञाएँ भी दी जाती हैं, जिनका ठीक-ठीक पालन कर सकना उसके लिए सर्वथा कठिन होता है। जैसे-वहाँ चले जाना, अमुक से यह कहना और यदि वह यह उत्तर दे तो यह नहीं तो यह बात कहना और फिर जो कुछ वह कहे वह अमुक से बतलाकर, उसका जवाब अपनी माता या मुझे बतलाना आकर। अथवा आज तुम खेलने बिल्कुल नहीं जाओगे और अगर जाओ तो थोड़ा बहुत खेल कर अपने घर आ जाना। कभी-कभी माता व पिता की परस्पर विरोधी आज्ञाओं से असमंजस में पड़ जाता है, जैसे पिता का आदेश है अमुक व्यक्ति के यहाँ कतई न जाया करो, माँ का कहना है कि जब उनके बच्चे आते हैं तो इसके जाने में क्या हर्ज है, कभी कभी हो आया करो, बेटे।

कभी-कभी उसे माता की इस स्पर्धा के बीच फँसना पड़ता है कि देखें बच्चा किसकी बात अधिक मानता है। पिता

कहता है अँग्रेजी की पुस्तक सुनाओ, माँ कहती है हिन्दी की कविता। वह बेचारा उन दोनों का मुँह ताकता हुआ असमंजस में पड़ जाता है कि किसकी बात माने किसकी न माने। एक की बात मानने से दूसरा नाराज होगा और यदि किसी की बात नहीं मानता तो दोनों की नाराजगी उठानी पड़ती है। निदान उसे एक को निराश करना ही पड़ता है। चूँकि बच्चा इतना चतुर तो होता नहीं कि दोनों की आशा निराशा में संतुलन बनाए रखें, फलस्वरूप एक का पलड़ा भारी होने से दूसरे की दृष्टि में गिरने लगता है। यद्यपि इस प्रकार की स्पर्धाएँ पारिवारिक मनोरंजन के अन्तर्गत आती हैं तथापि इनकी बहुतायत ठीक नहीं। इससे मन मुटाव की आशंका रहती है।

कभी-कभी अधिक आज्ञाएँ गुरुजनों के बीच कलह का कारण बन जाती हैं, जैसे, एक से अधिक आज्ञाएँ देने पर दूसरा तरस खाकर टोक भर देता है, कि बस टोके हुए का नपा-तुला उत्तर बाहर आया नहीं, आप चाहते या चाहती ही हैं, कि वह न तो मेरी कोई बात माने और न कोई काम करे मेरा उस पर अधिकार ही क्या है, बच्चा तो आपका है ना बस-क्रिया प्रतिक्रियाओं का जन्म और कलह का प्रारम्भ और फिर थोड़ी देर बाद घूम फिर कर बच्चे पर हीं आ पड़ती है, कि इसके कारण न जाने क्या-क्या सुनना पड़ता है? बेचारा निरपराध अपराधी बन जाता है।

बहुत सम्पन्न परिवारों की तो बात नहीं कही जा सकती किन्तु जहाँ साधारणतः नौकर उपलब्ध नहीं रहते, वहाँ एक प्रकार से उनकी पूर्ति बच्चों से ही की जाती है। यदि बच्चों के काम और उन पर होने वाले खर्च का अनुपात लगाया जाए तो शायद ही उन पर होने वाला खर्च अधिक बैठे।

इस प्रकार हर समय उसको क्षण-क्षण पर आज्ञानुवर्ती बनाए रखना ठीक नहीं। कभी किसी कारण से उनका मन कोई काम न करने का भी हो सकता है। बच्चा ही है, अपनी किसी धुन में अनसुनी भी कर सकता है और तब आप अपनी अवज्ञा समझ कर

खीझ उठेंगे।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है, कि बच्चे को कोई आज्ञा न दी जावे और न उससे कोई काम लिया जावे। कहना केवल यह है कि आज्ञाओं का तारतम्य कुछ कम करके उनका रुख बदल दिया जावे और अहं के स्थान पर कुछ नरमाई को संयोजित किया जावे। उसे अपना सहायक और सहयोगी तो बनाइए किन्तु एक मात्र नौकर की तरह सेवक न बनाइए। सेवक तो वह स्वयं आपका बनेगा ही, आप स्वयं अपनी ओर से उसको इस पद पर न मानिए। आशय यह कि सहायक और सहयोगी तो बनाना आपका अपना अधिकार है और सेवक बनना उसकी अपनी श्रद्धा का विषय है। और यदि आपको उसे आज्ञाकारी सेवक देखने से ही संतोष और पितृत्व गौरव अनुभव होता है तो उसे अधिक श्रद्धालु बनने का अवसर दीजिए। केवल पालन पोषण की कीमत पर उसे सेवक मानने का विनिमयन भाव प्रशंसनीय नहीं है। यह एक ओछी और अहितकर भावना है इसका आभास मात्र अनुभव हो जाने से बच्चा आजीवन आपको उस श्रद्धा की दृष्टि से न देख पायेगा जिससे उसे देखना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के भावानुबन्ध में पिता पुत्र का सम्बन्ध न रह कर स्वामी सेवक का सम्बन्ध हो जाता है। जो शायद किसी को भी रुचिकर न हो। अस्तु, उसे अश्रद्धालु होकर कर्त्तव्य से गिरने और स्वयं उसकी श्रद्धा से वंचित होने का अवसर न आने दीजिए। कोई बच्चा श्रद्धा लेकर पैदा नहीं होता। वह माता पिता की कृपा, कष्ट, करुणा और कोमलता से बच्चे के हृदय में जन्म पाकर दिनों दिन स्निग्ध और स्नेहिल व्यवहार से बढ़ कर एक दिन पूर्ण हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि ऐसी कौन सी आज्ञाएँ हैं जो कम कर दी जावें और उनका रुख किस प्रकार बदला जावे—इसका एक छोटा सा उत्तर है—कि केवल उसको उस समय वह आज्ञा दीजिए, जिस समय वह किसी अपने काम में निमग्न न हो और जो उसके करने योग्य हो और उससे कराए बिना कुछ हर्ज होता हो। केवल

आलस्य आरामतलबी अथवा अनावश्यक अधिकार तुष्टि के लिए आज्ञाएँ न दीजिए। जैसे खाना आप खाने जा रहे हैं—पानी बच्चा रखेगा, नहा आप रहे हैं धोती बच्चा लाएगा, कपड़े आप उतारेंगे, टांगेगा बच्चा, बाजार आप चलेंगे, वासन-वसन वह वहन करेगा, लौटते समय आप रिक्त हस्त, सामान उस पर आदि ऐसी बातें हैं जो बच्चों से करवाने में शोभा नहीं देतीं। हाँ यदि वह स्वयं करता या करना चाहता है तो खुशी से करने दीजिए, अथवा ऐसा वातावरण उत्पन्न करिए जिससे वह सारे कामों में हाथ बटाने को उत्सुक हो उठे।

बहुत से अभिभावकों का कोई एक काम एक बार में पूरा ही नहीं होता। कारण यह है कि उन्हें बच्चे को बार-बार दौड़ाने में कुछ लगता तो है ही नहीं फिर क्या जरूरत है कि काम सोचकर इस ढंग से बताया जाए कि वह एक बार में पूरा हो जाए-जैसे पानी ले आओ वह एक लोटे में पानी ले आया, वाह तुम भी अजीब आदमी हो, तुम्हें मालूम नहीं पानी पिएँगें गिलास में, गिलास लाना चाहिए था, जाओं लोटा ले जाओ और गिलास में लेकर आओ। जब वह गिलास में लेकर आया तो थोड़ा और ले आओ, प्यास बुझी नहीं। यही एक काम ठीक प्रकार से बतलाने में एक बार में ही पूरा हो सकता था और बच्चा बार-बार की कवायद से बच जाता जैसे- "पीने के लिए एक बड़े गिलास में पानी ले आओ"। इस प्रकार दिन में अनेकों बार ऐसी बातें होती रहती हैं और आखिर बच्चा ऊबकर कह ही बैठता है आप तो बार-बार दौड़ाते हैं। देखने में तो यह बातें बहुत छोटी मालूम होती हैं किन्तु धीरे-धीरे बच्चे की मनोवृत्तियों पर जो इसका अनदिख प्रभाव संचित होता है उसका बहुत महत्त्व है।

आज्ञाओं का रुख बदलने का अर्थ है—सीधे सीधे आदेश की भाषा में न कहना—जैसे—"पानी ले आओ, वहाँ चले जाओ, यहाँ आओ, खेलने मत जाना"। इन्हीं बातों को इस प्रकार कहने में

शायद कोई हर्ज नहीं है—क्या आप पानी पिलाएँगें, क्या वहाँ चले जाओगे, ज्यादा खेलना ठीक नहीं होता। इस प्रकार बात का थोड़ा सा रुख बदल देने से बच्चा सहर्ष वह काम करने को प्रेरित होगा। इनकार तो किसी दशा में कर ही नहीं सकता।

नरमाई रखने का अर्थ है—यदि किसी समय किसी कारण से कोई बात अनसुनी कर देता है तो उसे अपने मान और बड़प्पन का प्रश्न-बनाकर बहुत बुरा न मानिए, अपितु उसके कारण की खोज कीजिए और कहिए—क्या बात हो गई बेटे जो तुमने मेरी बात ही सुनना छोड़ दी। इससे वह लज्जित हो जाएगा और भविष्य में आपको ऐसा कहने का मौका न देगा।

इन सब बातों से किसी को यह आभास हो सकता है कि यह तो बच्चे को खुशामद करने और उसे सर चढ़ा कर बिगाड़ देने की बात कही जा रही है। किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। यह बातें सिर्फ बच्चों से ऐसा व्यवहार करने की ओर संकेत करती हैं जिनसे कि वे आपकी नैतिक विनम्रता से दबकर ठीक-ठीक विनम्र और आज्ञाकारी बनें। जब हम संसार में सबसे कोमल व्यवहार करना चाहते हैं तो कोई कारण नहीं दीखता कि बच्चों से कर्कश व्यवहार किया जावे। जब कि वे संसार में सब से अधिक कोमलता और स्नेह के अधिकारी हैं।

अस्तु, बच्चों को अधिक से अधिक आज्ञाकारी और विनम्र बनाने के लिए कम से कम आज्ञाएँ दीजिए। क्योंकि यह निश्चित है कि जिन बच्चों को जितने कम और युक्त आदेश दिए जाते हैं वे उनके पालन में सदैव सहर्ष तत्पर रहते हैं।



बच्चे को आज्ञाकारी कैसे बनाएँ

जमाने के साथ बच्चों की दुनियाँ भी बदल रही है। यों कहना उचित होगा कि शिक्षा, सभ्यता तथा अपने संगी-साथियों का बच्चे के ऊपर इतना असर पड़ने लगा है कि अब, माता-पिता ने जो कहा बच्चे बिना हील हुज्जत किए उसी के अनुसार करने लगें, ऐसे उदाहरण बहुत कम देखने को मिलेंगे। माँ-बाप भी बच्चों को कड़े नियन्त्रण में रखने में अब विश्वास नहीं करते। क्योंकि मनोवैज्ञानिकों ने यह साबित कर दिया है कि बच्चों के ऊपर बहुत दबाव डालने से उनकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का पूर्णतया विकास नहीं होता। फलस्वरूप बच्चे जीवन के संघर्ष में पूरी तौर से अपना पार्ट अदा नहीं कर पाते।

आखिरकार बच्चे की कुछ अपनी भी अक्ल है। गिर-गिर कर ही सबने चलना सीखा है। परन्तु गिरने के डर से किसी बच्चे को चलने से रोकना कौन-सी बुद्धिमानी है? जब बच्चे की बुद्धि का विकास माँ-बाप की देख भाल में होता है, तब बुराई और भलाई समझने का उसे स्वयं ज्ञान आ जाता है। हाथ एक बार जल जाने पर कोई भी बच्चा आग में दुबारा हाथ नहीं डालता। वैसे तो अग्नि आदि से दुर्घटना बड़े बड़े लोगों से हो जाती है।

नियमों से जकड़ें नहीं—बच्चा आखिर बच्चा ही है। वह बड़ों के सदृश्य सभा समाज के नियमों से अपरिचित है। इसलिए यह माँ-बाप का कर्त्तव्य है कि प्रेम और सहानुभूति पूर्वक सही तरीकों का ही उपयोग करें।

आज्ञा-पालन के विषय में बच्चे के दो रुख होते हैं, एक तो प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबाव के कहना मानना, क्योंकि जो मनुष्य उसे हुक्म दे रहा है उसके प्रति उसका विश्वास और प्रेम है। दूसरा रुख है जब बच्चा जानता है कि जो मनुष्य मुझे हुक्म दे रहा है वह

मुझसे जलता है, या उसका रुख पक्षपातपूर्ण है या वह हुक्म देने के अयोग्य है, ऐसी स्थिति में बच्चा केवल लाचारी में कहना मानेगा।

कई बच्चे ऐसी जिद्द पकड़ लेते हैं कि माँ-बाप के हुक्म के सिवा और किसी के हुक्म की परवाह ही नहीं करते। ऐसी आदत बुरी है। बच्चे में सहयोग की आदत और मिलकर काम करने का स्वभाव खेल खेल में पैदा करना चाहिए। इसलिए बच्चा केवल इस भावना से कोई अच्छा काम नहीं करे कि इससे माँ खुश होगी या न करने से पिताजी नाराज होंगे। परन्तु इस विचार से करे कि यही करना ठीक है और काम करने से माँ-बाप खुश होते ही हैं, इससे यह लाभ होगा कि अच्छे काम को वह किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं रखेगा।

अपने आदेशों में सामंजस्यता रखें:-बच्चे को उसके बुरे काम के लिए डाँटते या सजा देते समय इस बात का ध्यान रखें कि जब वह कसूर करे, उसी समय उसे डाँटना या समझाना चाहिए। एक-दो दिन बाद डाँटने अथवा उसी गलती पर कभी सजा देना, कभी छोड़ देने से बच्चे के मन में उस डाट या सजा का असर नहीं होता, उल्टा वह चिड़-सा जाता है। अगर किसी बच्चे ने कोई कसूर किया है, तो उससे बहुत परेशानी न दिखाएँ नहीं तो बच्चा अपने में ऐसी खासियत समझने लगेगा कि वह चाहे आप को परेशान करके महत्त्व प्राप्त कर सकता है। बच्चों के सुधार के मामले में धीरता से काम लेना चाहिए। सजा देते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि इससे बच्चे का आत्मसम्मान नष्ट न हो। अतएव उसे एकान्त में बुलाकर डांटना उचित है। सजा मिलने के बाद बच्चे में ग्लानि नहीं पैदा होनी चाहिए नहीं तो उसमें हीनता की भावना पैदा हो जाएगी। माँ-बाप का रुख बच्चे के प्रति ममतापूर्ण होना चाहिए न कि दण्ड देने वाले पुलिसमैन का। कोई बच्चा जन्म से बुरा नहीं होता। बच्चे बहुत से कसूर इसलिए कर बैठते हैं कि उन्हें सही और गलत का पता नहीं होता। इसलिए उसकी किस हरकत को आप शरारत

समझते हैं, हो सकता है कि उनकी अनजाने में की गई भूल हो, इसलिए बच्चे की भूल को सुधार कर उसे ठीक बात समझा देना चाहिए। अपने गुस्से के उबाल को बच्चे पर कभी नहीं निकालें। ऐसी दशा में आप बच्चे के साथ बहुत ज्यादती कर बैठेंगे।

माता-पिता इस बात का ध्यान रखें कि जिन बुराइयों के लिए वे बच्चे को रोकते-टोकते हैं कहीं वहीं बुराइयाँ खुद उन में तो नहीं है। क्योंकि उपदेश देने से उदाहरण पेश करना अधिक महत्त्व रखता है। बच्चे भलाई की बनिस्बत बुराई की झट नकल करते हैं। इसलिए यह जरूरी है कि बच्चे को सुधारने से पहले स्वयं पूर्ण होना चाहिए। अन्य कामों की तरह बच्चे आज्ञा पालन करना भी सीख जाते हैं। अच्छे काम का नतीजा सुख और प्रशंसा, बुरे कामों का नतीजा दुख और सजा है, इन दो नतीजों का उनके कारणों से सम्बन्ध है, यह बात उनके मन में भली प्रकार जमा दें।

जिस घर में दो असली राज होगा अर्थात् मां भी हुक्म दे तथा बाप मां की बात को काट कर दूसरा हुक्म दे, तो इससे बच्चे में अपनी सुविधा के अनुसार काम करने की प्रवृत्ति हो जाएगी। माता-पिता के परस्पर झगड़े का भी बच्चे पर बुरा असर पड़ेगा और वह उच्छृङ्खल बन जाएगा। बच्चों की उम्र का भी आपको ध्यान रखना चाहिए। शब्द प्रति शब्द तो आप के हुक्म का वह पालन नहीं कर सकते। अगर वह यथा-शक्ति आज्ञा पालन करने की चेष्टा करते पाए जाएँ तो आप को उन्हें उत्साहित करना चाहिए। पर कुछ हुक्म ऐसे हैं जो उन्हें तुरन्त पालन करने चाहिए। जैसे 'वह रख दो' 'इधर आओ' 'फौरन भागो' इन आदेशों को आप खेल में ही पालन करवाएँ तो बच्चे सुनने मात्र से पालन करने के अभ्यासी ही जायेंगे।

आदेश देते समय नीचे लिखी बातों का विशेष ध्यान रखें।

१. बच्चे की सामर्थ्य, योग्यता तथा आयु का ध्यान रख कर जो हुक्म सोच विचार कर दिया गया है उसका पालन बच्चे से अवश्य कराएँ।

२. हुक्म देने के ढङ्ग तथा कार्य प्रणाली में आप हमेशा परिवर्तन न करते रहें। अन्यथा बच्चा आप के तरीकों तथा स्वभाव से परिचित नहीं रहेगा।

३. आप का व्यवहार बच्चे के प्रति धांधली मचाने वाला या अत्याचारी डिक्टेटर का नहीं होना चाहिए। अगर बच्चा अपने खेल में लगा है और सोने अथवा खाने या कहीं जाने का समय हो गया है, तो उसे दस मिनट पहले से सूचित कर दिया जाए ताकि वह अपना ध्यान खेल से हटा सके। आपकी आज्ञा पालन के लिए उसे काफी समय मिल जाने से फिर वह आपके प्रति विद्रोही नहीं होगा।

४. किसी काम के करने का आदेश देने से यह अधिक उपयुक्त होगा कि आप उसे स्वयं करते हुए उसमें उससे सहयोग देने को कहें—आओ बेटा जरा अपने खिलौने तो उठवा कर रखवा लो।'' आदेश जहाँ तक हो सके नकारात्मक न हो। टोकने से तो अच्छा यह है कि उसका ध्यान किसी अच्छे काम की ओर आकृष्ट किया जाएँ।

५. आदेश देते समय आपकी आवाज अधिक आदेशात्मक न होकर एक सप्रेम निवेदन के रूप में होनी चाहिए। अपने माँ-बाप से ही बच्चा विनयशीलता सीखता है। अन्यथा वह भी लट्ठमार ढंग से बातचीत करना सीख जाता है।

६. जब आप-बच्चे को काम करने को कहें, उस समय आप यह ध्यान रखें कि वह आपकी बात को ध्यान से सुनकर समझ रहा है या नहीं? कभी कभी सुनने में लापरवाही से भी आज्ञा उल्लंघन हो जाती है।

७. एक समय जिस काम के लिए आपने उसे सजा दी थी वह काम करने की इजाजत कभी न दें। अन्यथा आपकी हिदायतों का उस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ेगा। कोई काम कराने से पूर्व उसके उत्साह को जाग्रत करें न कि यह कहें कि तुम्हें यह करना पड़ेगा। इससे बच्चे के स्वाभिमान को ठेस लगती है।

८. अगर आपने बच्चे को धमकी या इनाम देने का वचन दिया है तो दोनों बातों का पालन अवश्य करें। अन्यथा आपकी धमकी का डर और बात की साख दोनों मिट जाएगी।

९. बच्चे में आप अविश्वास न रखें। न उसे बदनाम करें। इससे बच्चा हतोत्साहित हो जाता है, क्योंकि बद से बदनाम बुरा है।

१०. यदि किसी बच्चे में कोई दोष या कमी हो तो उसके हृदय में यह न जमने दें कि आप नफरत करते हैं। परन्तु यह बताएँ कि आप उस बुराई को नापसन्द करते हैं और इस बुराई को छोड़ देने से वह बहुत ही अच्छा बच्चा बन जाएगा।

अच्छा काम करने पर या आपके कहे अनुसार करने पर आप 'शाबाश' कह कर उसका उत्साह बढ़ाएँ। अगर वह कोई बुरा काम करने जा रहा हो तो यह कहकर कि मेरा बेटा ऐसा बुरा नहीं है जो ऐसा खराब काम करें। उसके मन में यह विचार जाग्रत करदें कि क्यों कि बच्चा अच्छा लड़का है, इसलिए बुरा काम करना उसकी आदत और शान के खिलाफ है। इस तरह से बच्चों का झुकाव अच्छी बातों की तरफ खुद हो जाएगा।

समझदार माँ-बाप इसी प्रकार के तरीकों से बच्चों को आज्ञाकारी तथा कर्त्तव्यपरायण बना लेते हैं। एक बुद्धिमती माता ने बताया कि जब उसे अपने बच्चे से ऐसा कार्य करवाना होता है जिसमें बच्चे की ओर से प्रतिरोध की संभावना होती थी तो वह पहले अपने बच्चे को पास बुलाकर दुलार से पीठ पर हाथ फेरती हुई तद्विषयक कोई प्रोत्साहन उत्पन्न करने वाली बात सुनकर उस कार्य को करने के लिए बच्चे की मानसिक तैयारी करा लेती है और फिर आदेश देती है।

एक बार बच्चे की वार्षिक परीक्षा पास थी, वह गणित में बहुत कमजोर था, अतएव गणित के अभ्यास करने में उसका मन ही नहीं लगता था। माँ ने उसे दुलारते हुए कहा बेटा, तू सब विषय में इतना होशियार है। अबकी तो तू अपनी कक्षा में जरूर प्रथम आएगा, आखिरकार तो मेरा बेटा जो ठहरा। मैं भी बचपन में प्रथम रहती थी।

यह सुनकर बच्चा मुँह लटकाकर बोला "पर माँ हमारा गणित बड़ा कमजोर है। उसके मारे हमारी प्रोजीशन गिर जाती है।" माँ ने पुचकारते हुए कहा "अरे बेटा यह कौन बड़ी बात है कल से हम दोनों गणित किया करेंगे, मैं दस दिन में तुझे सारे सवाल सिखा दूंगी।"

बच्चे ने उत्साहित होकर पूछा "सच माँ, कल से तुम मुझे पढ़ाओगी। अच्छा तब तो मैं जरूर गणित का अभ्यास करूँगा।"

बस दूसरे दिन से बच्चे की माँ ने गणित के दो-चार गुर बच्चे को सिखा दिए। माँ से प्रोत्साहन पाकर बच्चे ने अपनी कमी पूरी कर ली जबकि मास्टर दस बार कह कर हार गया था, पर वह लड़का गणित करके ही नहीं लाता था।

जो व्यक्ति बच्चे की योग्यता तथा 'मूड' को समझ कर आदेश देता है उसे बच्चे का सहयोग प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होती। उसके आदेशों का पालन करने में बच्चे अपना मानसिक और शारीरिक सहयोग सहर्ष देते हैं। दबाव या डराकर हुआ काम बच्चों को कामचोर और फरेबी बना देता है। जब तक उन पर निगरानी रहती है तभी तक वह काम करते हैं, बड़ों की पीठ मुड़ते ही फिर काम को महत्त्व ही नहीं देते। डाँट या मार खाते-खाते ऐसे बच्चे ढीठ हो जाते हैं और उन का रुख ऐसा हो जाता है कि पीठ पर अगर दो धप्प पड़ भी गये, तो क्या हुआ, वह तो मेरी पीठ की न्यौछावर थी।

बड़े एक भूल और कर बैठते हैं कि वे अपना कोई काम करवाने के लिए बच्चे के पिछले अपराधों की याद दिलाकर उसे दबाने की चेष्टा करते हैं? जैसे एक बड़ी बहन अपने छोटे भाई राकेश से बोली "मुन्नू जरा चिट्ठी तो डाल आ, अच्छा तू नही सुनता, ठहर जा पिताजी को आ जाने दे, आज मैं उन्हें बताऊंगी कि पिछले इतवार को तू सिनेमा गया था।"

ऐसे मौके पर बच्चा दब तो जाएगा परन्तु इस प्रकार से कहना मनवाना बच्चे के लिए हितकर नहीं है।

बच्चों से काम कैसे करवाएँ—बाप जब बच्चे से कुछ काम करवाना चाहते हैं, तो उस समय आदेश देते हुए इस बात का विशेष ध्यान रखें कि बच्चा 'हाँ' और 'ना' की दुविधा में न पड़े। 'बच्चा' तुम जाओगे या नहीं? 'नहाने चलोगे कि नहीं?' क्या तुम सोने के लिए चल रहे हो? आप के इस प्रकार पूँछने पर सम्भव है वह अपनी प्रधानता जताने के लिए अथवा अपनी सुविधा के लिए नकारात्मक उत्तर दे। तब आप उसे समझाना शुरू करके सोने या खाने के लिए ले चलने का प्रयत्न करें। पर बच्चे भी तो अपने खेल में डूबे हुए मां की ही नहीं सुनते। अगर बच्चे के नहाने का समय है और बच्चा अपनी नई मोटर से खेल रहा है तो कहें "भइया चाबी भर कर मोटर को गुसलखाने की ओर ले चलो" बस अब बच्चा भी वहाँ पहुँच जाएगा और आप मोटर उठाकर गुसलखाने की मुंडेर पर रख दें और बच्चे को बातों में उलझाएँ रख कर नहला दें। इसी तरह अगर बच्ची गुड़िया खेलने में उलझी हुई है तो उससे कहें 'चलो मुन्नी रानी गुड़िया को भी भूख लगी है, इसको भी हाथ धुलवा कर खाने के कमरे में ले चलो।' 'बस बच्ची खुशी से आपके साथ चल देगी' और गुड़िया को सामने बिठा कर खाना खाने में उसे भी आनन्द आएगा। इसी प्रकार बाहर घूमने जाते समय या सोते समय भी बच्चे अपने-अपने गुड्डे-गुड़ियों को साथ लेकर काम करने में एक बड़प्पन का अनुभव करते हैं। गुड्डे-गुड़ियों की तुलना में वे स्वयं को बड़ा समझ कर इस बात की चेष्टा में रहते हैं कि काम ठीक से यथा समय किया जाए।

बच्चे के संग बहस करनी व्यर्थ है—कई माताएँ बच्चे से काम करवाते समय उन्हें क्यों और किसलिए आदि की कैफियत देती है। बच्चा उनके दृष्टिकोंण को तो समझ नहीं सकता उलटा वह बाल की खाल खींचने लगता है जैसे इससे क्या होगा? ऐसा क्यों करना चाहिए? न करने से क्या होगा? आदि प्रश्नों की झड़ी लगाकर सिर खाने लगते हैं। इसलिए छोटे बच्चों को लम्बी-चौड़ी कैफियत

देने की आवश्यकता नहीं है। कई माताओं को अपने बच्चों को बार-बार याद दिलाना पड़ता है तब भी वे काम में देरी करते हैं। जूं की तरह रेंग रेंग कर काम करने की उनकी पहली आदत-सी पड़ जाती है। वे कभी भी समय पर तैयार नहीं हो पाते। पहले तो इधर उधर खिलवाड़ में अधिकांश समय बरबाद कर देते हैं, फिर अन्तिम कुछ क्षणों में जल्दी जल्दी में झुंझलाकर काम समाप्त करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे बच्चों को कुछ समय रहते ही काम को समाप्त करने का तकाजा करना चाहिए।

उद्दण्ड और बदमिजाज बच्चे—ऐसे बच्चे नियमों के लागू होने पर बहुत छटपटाते हैं। रो-धोकर जिद्द करके वे मनचाही करने की चेष्टा में रहते हैं। तीन वर्ष की आयु से बच्चा अपने अधिकारों और सुविधाओं के लिए लड़ने लगता है। पर अच्छाई और बुराई, न्याय और धांधली में भेदभाव करना उसे नहीं आता। वह अपनी अबोधता के कारण जिद्दी और धांधलीपसन्द बन जाता है। अगर बच्चा बात-बात पर रोता और मनचाही करने का प्रयत्न करता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि माँ उसे ठीक से समझ नहीं पा रही है। उसे बच्चे को संभालने का ठीक ढंग नहीं आता। ऐसी स्थिति में इस बात का पता लगाना चाहिए कि क्या बच्चे को काफी समय तक अपने संगी-साथियों के साथ खेलने का अवसर मिलता है? क्या वह ऊपर चढ़ने उतरने, गाड़ी आदि ढकेलने के खेल खेलता है? क्या उसकी दिनचर्या और कमरे की व्यवस्था ऐसी है कि जब वह घर के अन्दर रहता है तो उसे खेलने और घूमने-फिरने, चीजों को छूने की आजादी है? कहीं नकारात्मक आदेशों से वह जकड़ा हुआ तो नहीं है? घर के बड़े बच्चे उसे दबाते और चिढ़ाते तो नहीं हैं? उसका स्वास्थ्य तो ठीक है?

—जब बच्चे का मिजाज बिगड़ा हो, वह जमीन पर रो धोकर बिखर रहा हो, उसके प्रति अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। आपके नाराज होने या मारने-पीटने से उस पर बुरा प्रभाव

पड़ेगा। ऐसे समय में बच्चों के प्रति दृढ़ पर स्नेहपूर्ण रुख अपनाना चाहिए। अनुभव से उसे समझते देर नहीं लगेगी कि रो-धोकर मैं अपने माँ-बाप से गलत बात नहीं मनवा सकता। जो गलत काम वह करा रहा है, उससे बच्चे को अलग करके घड़ी भर के लिए उसे अकेला छोड़ देना उचित है। रो-धोकर जब वह शान्त हो जाए तब प्यार से उसके आँसू पोंछ कर उसे उसकी भूलें समझा दें। वह जान जाए कि रोने-धोने और जिद्द करने से यहाँ गुजर नहीं है। ऐसे समय में सजा देना व्यर्थ है।

—जिस प्रकार बच्चे अच्छे तरीके, अपने सगी-साथियों के साथ हेल-मेल से रहना तथा अपने माता-पिता को प्यार करना अनुकरण और अनुभव से सीख जाते हैं, उसी प्रकार अपने मनोवेगों पर काबू रखना, दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना, सहयोग से काम करना भी अभ्यास और दूसरों के उदाहरणों से सीखते हैं। छोटे बच्चे को जैसे धीरे-धीरे अपने शरीर का सन्तुलन करना आ जाता है, उसी प्रकार उनके मनोवेगों में भी सन्तुलन आ जाने पर वे सामाजिक ढंग से व्यवहार करना सीख जाते हैं।

—अगर कोई हानि हो जाने पर बच्चा बहुत दुखी और लज्जित है तो यही पर्याप्त है। अनजाने में प्लेट टूट जाए अथवा खेलकूद में कमीज फट जाने पर उसे मारना मूर्खता है। हर अपराध पर बच्चे को धमकाना उचित नहीं-'मोहन अरे तू सायकिल साफ नहीं करेगा तो मैं तुझसे साइकिल छीनकर रमेश को दे दूँगा। अगर तू परीक्षा में पास नहीं होगा तो तेरा जेब खर्च बन्द कर दिया जाएगा। हमेशा इस प्रकार की धमकी देने से बच्चा ठीक प्रकार से काम करने का आदी नहीं बनता। वह सफाई या पढ़ाई केवल इसलिए करेगा क्योंकि इनके न करने से उसे वस्तु विशेष के लाभ से वंचित होना पड़ेगा। सफाई और पढ़ाई स्वतन्त्र रूप से उसके लिए कुछ महत्त्व नहीं रखेंगी।'

—अगर अपने-बार-बार आदेश देने और धमकाने पर बच्चा कहना नहीं मानता तो उसका भी कुछ कारण हो सकता है। बच्चे को जब सब दबाते हों या माँ छोटे बच्चे की ओर अधिक ध्यान देती हो और तुलना में उसे हमेशा आलोचना सुननी पड़ती हो तो बच्चा बड़ों को परेशान करने के लिए भला-बुरा सुनकर और सजा पाकर भी कहना नहीं भूलता। वह अपनी जिद्द से बड़ों को परेशान करके अपनी प्रधानता जताना चाहता है।

—असल में माता पिता के पक्षपात पूर्ण व्यवहार ने बड़े बच्चे को ऐसा जिद्दी बना दिया है। जब तक वह घर में अकेला बच्चा था, माँ उसे एक खिलौना मात्र समझती थी, उसका सभी काम वह खुद करती थी। घर में सबसे पहले उसकी सुविधा और आराम का ध्यान रखा जाता था, फलस्वरूप वह स्वार्थी और पर-निर्भर हो गया। अब अचानक एक नए भाई-बचन के जन्म पर वह स्वयं को सिंहासन से ढकेले हुए राजा के समान अपमान समझता है। उसके मनोवेगों में तूफान उठ खड़ा होता है। वह चिल्ला कर, बिगड़ कर, रोकर, वस्तुओं को तोड़ फोड़ कर अपनी प्रधानता जताना चाहता है।

कई बच्चे अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए स्वार्थी बन जाते हैं। माँ पहले मेरा काम करे, मेरी बात सुने, मेरी इच्छा पूरी करे ऐसा वह चाहते हैं। सभी उनकी बात मान ले किसी की न सुनें, यह रुख बहुत असामाजिक है। कई बच्चे शर्मीलेपन का अभिनय करके कहना नहीं मानते। माता-पिता भी उनको यह शरमाता है नहीं तो अभी कहना मान लेता, ऐसा कहकर उसे आज्ञा-उल्लंघन करने की प्रेरणा देते हैं, यह उचित नहीं है।

बच्चे को कोई काम करने का आदेश देते समय इस बात का ध्यान रखें कि उस कार्य को करने में उसके सम्मान और अधिकार की हानि न हो। बड़े भाई-बहन बच्चे को प्रायः ऐसी धमकी देते हैं कि—ठहर जा, पिता जी को आने दे, तुझको मजा न चखाया तो कहना-तब जानेंगे कि उनके सामने चूँ भी कर जाए।

ऐसी धमकियों से बच्चा ढीठ बन जाता है। वह जानबूझकर हुक्मउदूली में अपनी शान समझता है।

आपकी आज्ञा का पालन बच्चा सहर्ष करे, वह इस बात को समझे कि माता-पिता उसकी भलाई के लिए कहते हैं, वे उसे प्यार करते हैं और अपने प्यारे माँ-बाप का कहना करने, उन्हें अपने अच्छे कामों से खुश करने में, उसे भी सुख और आनन्द मिलता है। यह तभी सम्भव है जबकि आप बच्चे के प्रति एक नियामक दरोगा न होकर सहनशील माता-पिता होंगे तो बच्चा आप का आज्ञापालक अवश्य होगा।



सभ्यता व संस्कृति

एक अनुभवी शिक्षक का कथन है कि हम लोग अपने बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में भी उदासीन हो गए हैं। माता-पिता को समय नहीं मिलता कि बालकों की ओर समुचित ध्यान दें। वे चाहते हैं कि बालक को पाठशाला में भर्ती करा दें और आगे का सब काम अध्यापक ही कर लेंगे, पर आज के अध्यापक को कोई परवाह नहीं। यह एक कारण है जिससे बालकों की शिक्षा दूषित होती है।

मान लीजिए कि जब आप कहीं आमोद-प्रमोद के लिए जाते हैं तो वहाँ पड़ाव डालकर अपना सारा काम स्वयं करते हैं। झाड़ू देकर जमीन साफ करते हैं, लकड़ियाँ बीन आग जलाते, बर्तन साफ करते, चाय बनाते, पत्तों पर भोजन करते हैं। यह सब काम बड़ी रुचि से करते हैं जिसमें एक प्रकार का आनन्द आता है। वही काम यदि घर पर करना पड़ जाए तो सम्भवतः आप यह कहकर इन्कार कर देंगे कि 'यह हमारा काम थोड़े ही है।' बच्चे को सभ्य व सुसंस्कृत बनाना माता-पिता की जिम्मेदारी है उस जिम्मेदारी के पालन से ही बच्चे समाज के लिए उपयोगी बन जाते हैं।

जिस प्रकार इमारत का ख्याल रखकर हम नींव डालते हैं, उसी प्रकार बच्चे की समझ तथा पढ़ने की कठिनाई को समझकर हमें पहले उस ओर बच्चों की दिलचस्पी पैदा करनी आवश्यक है। बहुतेरे माता-पिता की यह शिकायत होती है कि बच्चा स्वयं नहीं पढ़ता, उसको एक साल स्कूल जाते हो गया परन्तु उसने कुछ नहीं सीखा है। घर पर भी मार-मार कर पढ़ाना पड़ता है। अब भला बताइए जिस काम के कारण शुरू से ही बच्चे का खेलना बन्द हो जाए, तीन घण्टे कक्षा में कैदी के समान बँध कर बैठना पड़े, न हँस सके, न बोल सके, न कहीं इधर-उधर जा सके, पढ़ाई कुछ समय में न आने पर मास्टर से तथा घर पर मारपीट अलग सहनी पड़े, उस काम में बच्चे की दिलचस्पी कैसे हो सकती है? वह तो मास्टर को एक हऊआ तथा पढ़ाई को मुसीबत समझने लगते हैं। लड़का जब घर पर कुछ शरारत करता है तो माँ-बाप धमका कर कहते हैं 'यह मेरा कहना नहीं मानता' दिन भर घर में ऊधम मचाएँ रहता है, अगले महीने से इसे स्कूल भेजूँगी तब इसकी तबियत ठीक होगी, सारी बदमाशी भूल जाएगा। जहाँ भी पढ़ाई के विषय में बच्चे का आरम्भिक अनुभव बुरा हुआ, बड़ा होने तक दूर नहीं होता। यही कारण है कि मेधावी बच्चों में दिलचस्पी की कमी बनी रहने से वह उतना अच्छा नतीजा नहीं दिखा पाते।

इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही काम भिन्न-भिन्न तरीकों से दिलचस्प भी हो सकता है और अरुचिकर भी। बच्चों के विषय में भी यही बात है कि उनको जब आप कोई काम सिखाएँ तो उसके प्रति बच्चों को उत्सुकता तथा शौक बनाएँ रखें, फिर आप देखें कि बच्चे अपना खाना-पीना भूल कर किस प्रकार ध्यान से आपकी बात सुनते हैं।

वास्तविक बात तो यह है कि माता ही बच्चे की सर्वप्रथम गुरु है। पाँच वर्ष की उम्र में बच्चा योग्य माँ से इतना कुछ सीख सकता है, जितना चार साल आगे स्कूल में नहीं सीख सकेगा।

कहानी किस्से के रूप में ही बच्चा इतिहास, भूगोल, धर्म विज्ञान, स्वास्थ्य रक्षा, सफाई, कविता, कहानियाँ, चुटकुले आदि की शिक्षा प्राप्त कर लेता है। बच्चे कहानी सुनने के बड़े शौकीन होते हैं। कहानियों के द्वारा ही बच्चों का चरित्र निर्माण हो सकता है। अब यह तो माँ की योग्यता और चरित्र पर निर्भर करता है कि बच्चे को किस प्रकार की कहानी सुनावें। परियों की कहानी जानने वाली माताएँ बच्चों को वह सब सुनाती रहती हैं परन्तु माता जीजाबाई बच्चे शिवाजी को रामायण और महाभारत की वीर कहानियाँ सुनाती रहती थीं। तभी तो आगे चल कर उनका बच्चा धर्म प्रतिपालक आज्ञाकारी और साहसी बना। घर में जब बच्चों की स्मरण शक्ति का इन कहानियों के द्वारा विकास हो जाएगा, वह बड़ा होकर उन्हीं बातों की चर्चा इतिहास, भूगोल विज्ञान आदि की पुस्तकों में पढ़ेगा, तब उस विषय के अपने बाल्यकाल के ज्ञान को वह उसी कड़ी में जोड़ देगा। इस प्रकार बाल्यावस्था में शिक्षण की जो पहली कड़ी तैयार हुई होगी, आगे का ज्ञान उसी के साथ शृंखलाबद्ध हो जाएगा। पहली मजबूत नींव पर ही आगे की इमारत खड़ी कर दी जाएगी।

बच्चों को स्कूल तभी भेजना चाहिए, जब अपने संगी-साथियों को स्कूल जाते देख, वहाँ की मनोरंजक घटनाएँ, खेल-तमाशे आदि के विषय में सुन उनके दिल में भी स्कूल जाने की लालसा जाग्रत हो जाए। आप भी बच्चे के दिल में इस भावना को जाग्रत करनें में सहायता दें। यह कहने से कि 'वाह बच्चा अब बड़ा हो गया है अब तो वह भी शान से बस्ता दबाकर स्कूल जाया करेगा, वह भी बड़े भैया की तरह इनाम जीतेगा। अपनी कक्षा में फस्ट रहेगा, भैया ने जो कहानी और कविताएँ याद की हैं, उन्हें जब वह अपने मास्टर साहब को सुनावेगा, वह कितने प्रसन्न होंगे। वार्षिक जलसे में उसे सबके सामने कविता सुनाने का अवसर दिया जाएगा क्योंकि बच्चा क़विता कहने में तनिक भी नहीं शर्माता। देखना तो सही जब हमारा बच्चा स्कूल जाएगा उसकी कितनी शान रहेगी। इस प्रकार

की बातों से बच्चे की आँखों में एक खुशी की तथा उत्साह की चमक आ जाएगी। वह स्वयं ही स्कूल जाने के लिए उतावला रहेगा। अपना नया बस्ता, नई आकर्षक तस्वीरों वाली पुस्तक, खाना ले जाने के लिए नया डिब्बा, छोटी गिलासी ये सभी चीजें उसमें एक बड़प्पन और विशेषता का अनुभव पैदा करेंगी व बड़ी दिलचस्पी से स्कूल जाएगा। ऐसी स्थिति में स्कूल जाने का कार्य उसके लिए भार रूप नहीं होगा।

यों तो आधुनिक बाल-मनोविज्ञान एक बहुत बड़ा विषय है किन्तु इस पुस्तिका के आधार पर जो माता-पिता अपने बच्चों का पालन पोषण व शिक्षण करेंगे उनके बच्चे निश्चित ही देश के सुसभ्य एवं सुसंस्कृत नागरिक बनेंगे।



मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा